मृत्युमहोत्सव

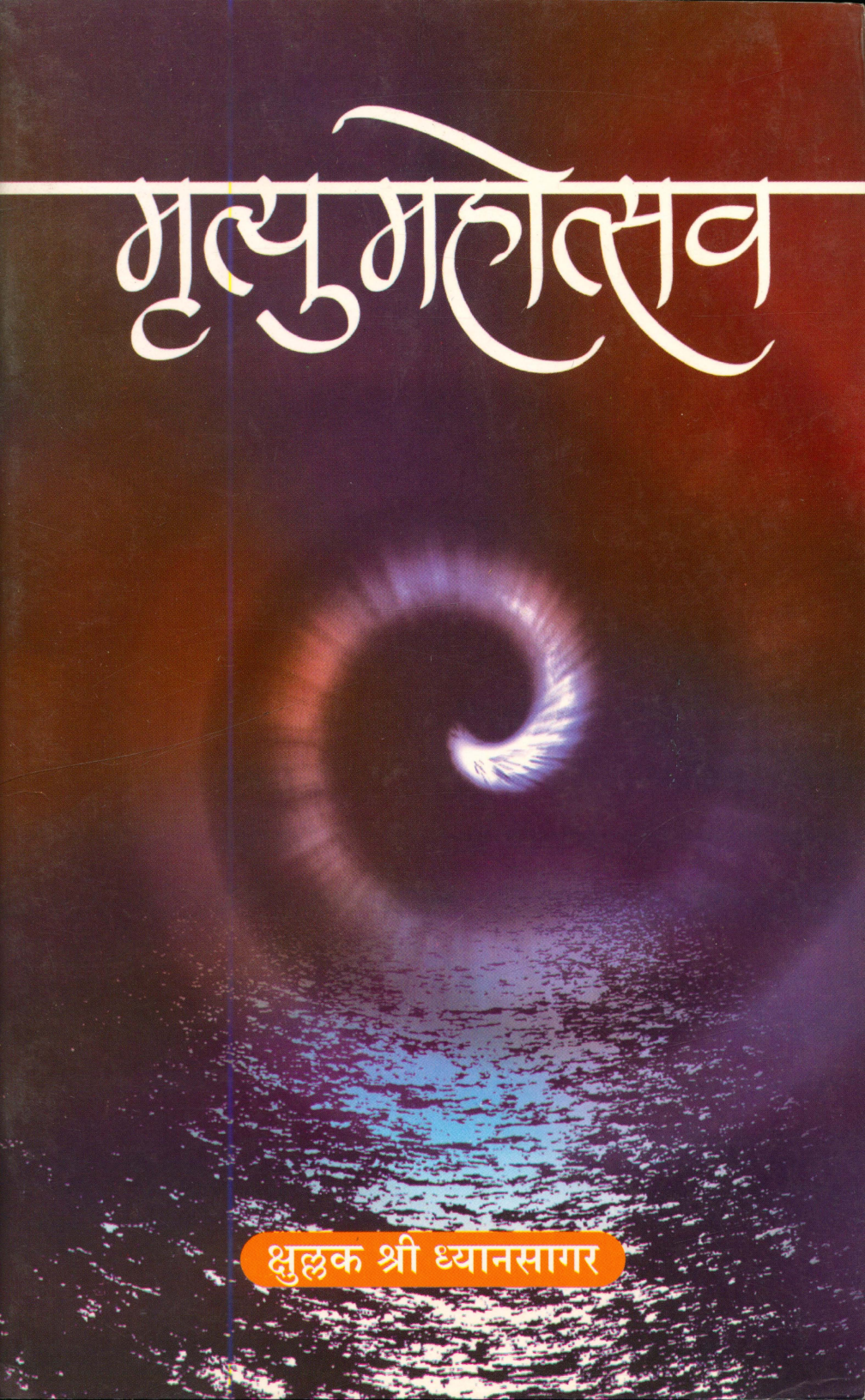

क्षुल्लक श्री ध्यानसागर

श्री अज्ञातकवि कृत

मृत्यु-महोत्सव

हिंदी पद्यानुवाद, अन्वयार्थ एवं अन्तर्ध्वनि

आचार्य श्री विद्यासागरजी मुनिराज के परम शिष्य

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक ध्यानसागरजी

संयोजक

सुनिल हरिश्चन्द्र जैन

अहमदाबाद

प्रकाशक

डॉ. प्रकाश सी. शाह,

अरविंदकुमार नाथालाल शाह

प्रसंग– श्री रायदेश दशाहुम्मड दिनम्बर जैन समिति संचालित
ज्ञान-ध्यान-शिक्षण शिबिर आयोजित
नवमी धार्मिक शिक्षण शिबिर के निमित्त
शिबिर-शुभारम्भ : २९ अप्रेल, २०११, शुक्रवार

संस्करण : प्रथम
ईस्वी सन् २०११
प्रतियाँ : ३०००

मूल्य : सदुपयोग/स्वाध्याय

प्राप्तिस्थान
(१) डॉ. प्रकाश सी. शाह,
पूंजन बँगला, मंगलं स्ट्रीट, अपूर्व फ्लेट के सामने,
महावीर नगर, हिम्मतनगर-३८३००१ (गुजरात)
मो. ०९८२४३ ३०२३५

(२) अरविंदकुमार अेन. शाह,
पटेल शोपींग सेंटर,
सी. वींग, चंदावरकर लेन, बोरीवली, मुंबई

(३) सुनिल जैन, महासेल, रंगमहल टॉवर, टी.टी.नगर,
भोपाल (म० प्र०) मो : ०९४२५० १४६११

(४) सुनिल हरिश्चंद्र जैन, ८५, धनलक्ष्मी सोसायटी,
सी. एम. सी., अजय पेट्रोल पंप के सामने, ओढव रोड,
अहमदाबाद–३८२ ४१५ मो : ०९८२४१ ५४५८९

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
अहमदाबाद

अक्षर मुद्रांकन :
डीस्केन कॉम्प्यु आर्ट, आणंद
फोन : (०२६९२) २५५२२१

श्रीमती वर्षा प्रकाश शाह, श्री डॉ. प्रकाश सी. शाह

स्व॰ नाथालाल पूंजीराम शाह स्व॰ मणिबेन नाथालाल शाह

मु. पो. पोशीना, तालुका ईडर

आपका पार्थिव देह आज विद्यमान नहीं है, परन्तु आपका प्रामाणिक, निर्मल और प्रेमाल व्यक्तित्व हमारी हृदयभूमि में सदा जिंदा है । हमारे लिये आपकी स्वरूपलक्षी जीवनदृष्टि सम्यक्बोध प्रेरक है, जो हमारे वर्तमान जीवन को सुगंधित बना रही है । आप परम प्रभुकी उपासना से शीघ्रातिशीघ्र शाश्वत शांति को प्राप्त हो यही शुभ भावना ।

लि॰

अरविंदकुमार नाथालाल शाह

चन्द्रिकाबेन अरविंदकुमार शाह

आत्म निवेदन

क्षुल्लक १०५ श्री ध्यानसागरजी महाराज संतशिरोमणि आचार्य १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज के प्रथम पंक्ति के शिष्यों में प्रतिष्ठित हैं। उनका सांनिध्य हमारे जीवन की अमूल्य उपलब्धि हैं। सन् २००५ में जिस समय हिम्मतनगर (गुजरात) वासियों का भाग्योदय हुआ और उन्हें महाराजश्री के वर्षायोग का सुअवसर प्राप्त हुआ, तब पहली बार हमें महाराजश्री के परिचय एवं प्रत्यक्ष दर्शन का सुयोग मिला। हम धन्य हुए।

वर्षायोग के दौरान श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा सर्वार्थसिद्धि, रयणसार, कल्याणमंदिर स्तोत्र, मृत्यु महोत्सव आदि के माध्यम से गुरुवर के श्रीमुख से सरस्वती की अजस्र धारा प्रवहमान होती रही और श्रोताजन उसमें आपाद-मस्तक अवगाहन करते हुए भावविभोर होते रहें। हमारा परिवार भी पूर्णतः लाभान्वित हुआ। उनकी जिह्वा पर जैसे साक्षात् माँ सरस्वती का वास है। उनके कंठ की तो अब किन शब्दों में प्रशंसा की जाए? अद्‌भुत माधुर्य है उनके कंठ से निकले मधुमिश्रित स्वरों में! उनके मधुर कंठ से निःसृत भक्ति की धारा कैसेट्स और सीडियों के माध्यम से आज भी जन-जन के हृदय में गुंजित हैं।

जीवन क्या है? यद्यपि आज तक जीवन एक अपरिभाष्य शब्द रहा है, एक अनसुलझी पहेली रही है, वस्तुतः जीवन जन्म और मृत्यु के बीच की यात्रा है। अथवा यों कहिए कि जीवन एक सिक्का है जिसके दो पहलू हैं—जन्म और मृत्यु। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" अर्थात्

'आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर।
कोई सिंहासन चढ़ चले, कोई बंधा जंजीर॥'

किन्तु हम संसार के अज्ञानी लोग इस चिरंतन सत्य को जानकर भी अनजान बने रहते हैं और किसी भी स्वजन के निधन पर रो-रो कर आर्त्त-रौद्र ध्यान के शिकार होते हैं। वस्तुतः मृत्यु तो हमारा एक ऐसा सच्चा मित्र है जो हमें समस्त दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त करता है। मृत्यु हमें जीर्ण-शीर्ण शरीर से मुक्त कर नये शरीर को प्राप्त करने में सहायक होती हैं। अतएव मृत्यु को अनिष्ट न समझते हुए तथा जीवन-यात्रा की सुखद मंजिल मानकर हम बोधि-तत्त्व उपलब्ध कर सकते हैं तथा मृत्यु को भी एक महोत्सव के रूप में मना सकते हैं। मृत्यु महोत्सव का यह अविस्मरणीय उपदेश एवं दिव्य संदेश हमें गुरुवर क्षुल्लकश्री ध्यानसागरजी के प्रवचनों से प्राप्त हुआ।

चतुर्मास की सम्पन्नता पर पिच्छी-परिवर्तन की परंपरा हैं। वस्तुतः पिच्छी एक ऐसा उपकरण हैं जो संयम का प्रतीक है। आचार्य प्रवर श्री

विद्यासागरजी महाराज के संघ की यह परंपरा रही है कि उसकी बोली नहीं लगती और यह भी, कि संयम का यह उपकरण उसको ही प्राप्त हो और नया उपकरण भी उसी के द्वारा महाराजश्री स्वीकार करें जो किसी न किसी संयम को व्रत के रूप में ग्रहण करने का संकल्प लेकर जीवन-पथ में आगे बढ़ने को तत्पर हो। तदनुसार हमें पूज्य गुरुवर को नई पिच्छी प्रदान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। धन्य था वह दिन और धन्य थी वह घड़ी जब गुरुदेव ने हमारा नाम प्रथम पंक्ति में रखकर हमें कृतार्थ कर दिया। पुनश्च, गुरुदेव की पुरानी पिच्छी को प्राप्त करने का सौभाग्य नागपुर निवासी मात्र उन्नीस वर्षीया रानू दीदी को मिला जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का कठोर संकल्प किया।

पूज्य गुरुवर के हम पर बहुत उपकार हैं। शिष्य जब तक गुरु से उऋण नहीं होता, तब तक उसकी मुक्ति संभव नहीं है। यों तो दिगम्बर आम्नाय में गुरुदेव किसी भी प्रकार की गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं करते, तथापि हमारे विशेष आग्रह पर उनसे हमने 'मृत्यु महोत्सव' नामक ग्रंथ की पांडुलिपि को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के लिये आशीर्वाद लिया। ग्रन्थरूप में गुरुदेव के उदात्त विचारों को जन-जन तक पहुँचाने का स्वर्णिम अवसर पाकर हम तो पूज्य गुरुवर के और भी ऋणी हो गये।

वस्तुतः अपरिग्रह व्रती गुरुदेव को प्रदत्त यह गुरुदक्षिणा ग्रन्थ रूप में जन-जन के पास उनका मूर्तिमंत आशीर्वाद या प्रसाद बन कर पहुँचे, यह हमारी भी अंतःकरण की भावना है। निश्चय ही गुरुदेव के ग्रंथस्थ विचारों को आत्मसात् करने से समाज में असाधारण जागृति आएगी और जनसाधारण भी निर्भीक होकर साहस और उल्लास के साथ मृत्यु जैसे चिरंतन सत्य को अंतःकरणपूर्वक स्वीकार कर सकेगा और तब मृत्युकाल शोक और ग्लानि का अवसर नहीं, अपितु मृत्यु-महोत्सव बन जाएगा और यदि ऐसा हुआ तो प्रत्येक व्यक्ति का यह जन्म ही नहीं, अगला जन्म भी सुधर जाएगा, संवर जाएगा।

अन्त में "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' के अनुसार गुरुदेव के ही मधुर स्वरों में सुने हुए एक भजन की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करके मैं विराम लेना चाहूँगी। अस्तु-

चरण-धूलि अपने गुरुवर की, शिष्य-शीश पर चंदन हैं।
गुरुवर के चरणों का वंदन, संयम का ही वंदन हैं।
शिष्य और गुरुवर दोनों में, अमिट प्रेम का बंधन हैं।
गुरुवर की हर साँस शिष्य के, भक्त हृदय का स्पंदन हैं।

—वर्षा प्रकाश शाह, हिम्मतनगर (गुजरात)

क्या सल्लेखनापूर्वक मरण, इच्छामरण है?

अपने निर्वाह से कठिन अपना निर्माण है और उससे भी कठिन अपना निर्वाण है। वैसे भी जन्म-जरा-मरण का क्रम सामान्यतः दीर्घायु मनुष्य के जीवन में तो निश्चित है। इष्ट जुटाना एवं अनिष्ट हटाना भी एक नित्यक्रम है। आशा एक इष्ट की पूर्ति होने पर दूसरे इष्ट की मूर्ति दिखलाती है। जीवन का अन्त आ जाता है, आशा का नहीं। 'और-और' करते हुए जीवन का छोर आ जाता है, परन्तु आशा का ओर-छोर नहीं आता। जीवन में कितना पाया और कितना खोया, इसका विचार तब आता है जब मरण सन्मुख होता है। जब आया, कुछ लाया नहीं; जब जायेगा, क्या ले जायेगा? तब भी मरण-समय में सब कुछ लुटने का भय उत्पन्न हो जाता है। प्राणी मृत्यु को देख थर-थर काँपने लगता है। इसीलिये किसी ने कहा है :

मृत्योर्बिभेषि किं? मूढ! भीतं मुञ्चति किं यमः?
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥

हे मूढ़ मानव! तू मृत्यु से क्यों डरता है? क्या यम भयभीत प्राणी को जीवित छोड़ता है? वह तो केवल उसे नहीं पकड़ता, जो अजन्मा है, अतः अजन्मा होने का प्रयत्न कर!

स्मृति और आशा की खींचातानी से हटकर वर्तमान में निर्द्वन्द्व जीना जीने की कला है, जिसके उपदेष्टा विश्व के अनेक श्रेष्ठ सन्त-विद्वान् होते ही आये हैं। भक्ति, विवेक और निर्मल साधना के बल पर मरण की बेला में साक्षीभाव धारण करना मरण-कला है, जिसके उपदेष्टा तीर्थंकर-जिनमात्र हुये हैं। आचार्य विद्यासागर गुरु कहते हैं :

दोषरहित आचरण से चरण पूज्य बन जाय।
चरणधूल तब सर चढ़े मरण पूज्य बन जाय॥

जीवन मन्दिर-तुल्य है, व्रत-संयम उसके शिखर-समान है और समाधिमरण उस शिखर पर स्थापित स्वर्ण-कलश जैसा है। जिन परमात्मा के पद-चिह्नों पर चलने पर कुमरण टल जाता है और

मरण सुमरण बन जाता है। जैनशास्त्रों में मरण के निम्नांकित १७ भेद बताये हैं :

(१) पण्डित-पण्डित-मरण : निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति, अपुनर्भव।
(२) प्रायोपगमन-पण्डित-मरण : संयमी का सेवा-निरपेक्ष मरण।
(३) इङ्गिनी-पण्डित-मरण : संयमी का पर-सेवा-निरपेक्ष मरण।
(४) भक्त-प्रत्याख्यान-मरण : संयमी का सेवा-सापेक्ष मरण।
(५) बाल-पण्डित-मरण : देश-संयमी का सल्लेखना मरण।
(६) बाल-मरण : असंयमी सम्यग्दृष्टि का मरण।
(७) बाल-बाल-मरण : मिथ्यादृष्टि का मरण।
(८) आवीचि-मरण : प्रतिक्षण होने वाला आयुःक्षयरूप मरण।
(९) तद्भव-मरण : वर्तमान आयु का अन्त।
(१०) अवधि-मरण : पूर्व-भव-सदृश-मरण।
(११) आद्यन्त-मरण : पूर्व-भव-विसदृश-मरण।
(१२) सशल्य-मरण : माया-मिथ्या-निदानशल्यपूर्वक मरण।
(१३) समुत्सृष्ट-मरण : रत्नत्रय छूटने पर होनें वाला मरण।
(१४) गृद्धपृष्ठ-मरण : हाथी-आदि के उदर-प्रवेशपूर्वक मरण।
(१५) जिघ्रास-मरण : श्वास-निरोधादिपूर्वक मरण।
(१६) अप्रशस्त-मरण : रत्नत्रय के साथ भी संक्लेशपूर्ण मरण।
(१७) बलाका-मरण : भ्रष्ट-साधु का मरण।

जैन-साधना-पद्धति में व्रती गृहस्थ एवं महाव्रती साधु सल्लेखनापूर्वक संन्यास-मरण स्वीकार करते हैं। इस विधि में स्थित गृहस्थ 'साधक-श्रावक' और साधु 'क्षपक-श्रमण' कहलाते हैं। कभी-कभी सल्लेखना की बाह्य-प्रक्रिया इच्छा-मरण/आत्महत्या का भ्रम उत्पन्न करती है, अतः इसके वास्तविक मर्म से अपरिचित मस्तिष्क इसे अनुचित ठहराता है किन्तु इसके मर्म से परिचित होने पर वह स्वयं इसे समुचित स्वीकार करने लगता है। अपराध-शास्त्र में एक दृष्टान्त आता है :

दो ने बंदूकें दागी; दो को गोलियाँ लगी। प्रश्न-प्रतिप्रश्न के पश्चात् न्यायालय ने एक पर हत्या के प्रयास की धारा लगायी और

एक को लापरवाही बरतने का अल्प-दण्ड दिया। यद्यपि प्रथम की गोली से खरोंचमात्र आयी थी, तब भी उस पर बड़ी कार्यवाही हुई और बंदूक चलाने का अभ्यास करने वाले द्वितीय की गोली से गहरा-घाव होने पर भी उसे अल्प-दण्ड मिला। इसका कारण दोनों के अभिप्रायभेद हैं। तात्पर्य यह है कि घटनामात्र को देखकर किसी को अपराधी नहीं मान लिया जाता, जब तक उसका उद्देश्य स्पष्ट नहीं। ठीक इसी प्रकार देश के लिये अपनी जान देने वाला वीर जवान सम्मान का पात्र बन जाता है, शहीद गिना जाता है आत्मघाती नहीं। दुर्घटना अथवा प्राकृतिक-प्रकोप में किंवा किसी की रक्षा हेतु प्राण-विसर्जन हो जाये, तो मरण के अभिप्राय का अभाव होने के कारण उसे आत्महत्या नहीं गिना जाता। सल्लेखना भी वास्तव में सती-प्रथा, आत्महत्या अथवा इच्छामृत्यु से मूलतः भिन्न प्रक्रिया है। इसमें धर्म के नाम पर किसी को गुमराह करने का प्रसंग ही नहीं है। सामान्यतः मृत्यु के निकटस्थ सामान्य मनुष्य का मोह प्रबल होने लगता है पर सल्लेखनाधारी वीरतापूर्वक उस मोह पर विजय पाने का पुरुषार्थ करता है और परिणामतः एक योद्धा के समान उसका वीरमरण होता है क्योंकि त्याग बिना मरना दुःखद होता है पर त्यागपूर्वक मरण सुखद होता है। मोह पर विजयपूर्वक मरण मृत्युमहोत्सव होता है, कुमरण नहीं।

जैन-धर्म और जैन-दर्शन, (आचार व विचार) अहिंसाप्रधान है। यहाँ 'जीओ और जीने दो' की शैली है, मरने-मारने का प्रश्न उठता ही नहीं है। सल्लेखना-विधि प्राण-हनन के लिये कदापि नहीं, किन्तु निकट-काल में प्राणान्त का निर्णय होने पर मोह को जीतने के लिये अंगीकार की जाती है। जब शरीर धर्म में सहायक है, तब कौन विवेकी इसके त्याग की इच्छा करेगा? स्याही से भरी रीफिल कौन फेंकेगा? प्राणान्त समीप आने पर स्वयमेव बल क्षीण होने लगता है, अतः अन्नादि का क्रमिक त्याग जठराग्नि की मन्दता में प्राणनाशक न होकर स्फूर्ति का कारण बनता है। यदि मृत्यु के पूर्व भी स्वादिष्ट व्यंजनादि एवं अन्नाहारादि पूर्ववत् लेते रहे, तो मन्दाग्नि के कारण विषवत् अनिष्ट प्रभाव ही पड़ता है, अतः

आहार के त्याग को देख उसका उद्देश्य मृत्यु को आमन्त्रण न समझ यही समझना उचित है कि इससे प्रमाद एवं अनावश्यक अस्वस्थता से मुक्ति मिलती है। रही उपवासों की बात, तो यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि उपवास से भी शुद्धीकरण होता है, अतः उपवासों का लक्ष्य भी मृत्यु को आमन्त्रण देना नहीं अपितु काया का निर्विषीकरण (Detoxification) है। निर्विष काया में स्थित जीव के भाव विशेष निर्मल होते हैं। स्थूलतः सल्लेखना और आत्महत्या में निम्नांकित भेद हैं :–

सल्लेखना	आत्महत्या
● जीवन-मरण की वांछा रहित होती है।	● मृत्यु की प्रबल वांछा-सहित होती है।
● अनुमतिपूर्वक प्रगटरूप से होती है।	● अनुमति लिये बिना चोरी से की जाती है।
● समाधिमरण का कारण है।	● अकालमरण का कारण है।
● साहस है।	● कायरता है।
● आदर्श बनाती है।	● अपयश प्रदान करती है।
● 'जीवन नष्ट होता है, जीव नहीं', यह जानकर की जाती है, अतः जब तक जीवन है, जीव के हित का पुरुषार्थ किया जाता है।	● 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी' अर्थात् जब मैं ही मर जाऊँ, तो कष्ट कैसे रहे ? यह मान कर की जाती है।
● आशा-निराशा छोड़कर की जाती है।	● घोर निराशापूर्वक की जाती है।
● विशुद्धिपूर्वक की जाती है।	● संक्लेशपूर्वक की जाती है।
● भावावेश में असंभव है।	● भावावेश बिना असंभव है।
● धीरज के साथ ही होती है।	● अधीर होकर ही की जाती है।
● तैयारीपूर्वक मरण है।	● मरण की तैयारी है।
● अल्पकाल में होना दुष्कर है।	● अल्पकाल में ही की जाती है, उसके बाद नहीं।
● मनको जीतकर की जाती है।	● जीवन से हार कर की जाती हैं।

- शांत और विवेकी मानव ही करता है।
- अशांत और अविवेकी मानव ही करता है।
- अगले भवों में आध्यात्मिक विकास कराती है।
- आगामी-जन्मों में अनिष्ट फलदायी है।

उपर्युक्त १५ बिन्दुओं पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सल्लेखना किसी भी प्रकार से आत्महत्या नहीं है। ५वीं शती के ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में ग्रन्थकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि सल्लेखना प्रेमपूर्वक स्वयं अंगीकार की जाती है, बलात् करायी नहीं जाती। (अ०७ / सू०२२)

सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री खुशवंतसिंह ने भी इस पर अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है : "मैं मृत्यु को बिलकुल भयंकर नहीं मानता क्योंकि मृत्यु तो एक उत्सव की बात है, इस जैन-तत्त्व-दर्शन पर मैं श्रद्धा रखता हूँ।"

आचार्य विनोबा भावे ने भी जैन-तत्त्व-दर्शन का न केवल समर्थन किया किन्तु स्वयं सल्लेखना-विधि को अंगीकार भी किया और जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने उनसे व्यक्तिगत मुलाकात की एवं उन्हें अपने त्याग का संकल्प छोड़ने का अनुरोध किया तब वे अडिग भाव से बोले कि दीपावली को हमारा समय पूर्ण होता है, अतः औषध-ग्रहण का भी हमें कोई विकल्प नहीं। ठीक दीपावली को उनका देहविसर्जन हुआ। यहाँ भी मरण को आमंत्रण न देकर उसका स्वागत ही दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में सल्लेखना मृत्युपूर्व होने वाली आकुलता से त्याग-वैराग्यपूर्वक मुक्त करती है, यह मृत्यु के मुख में किसी को बलात् नहीं ले जाती।

सल्लेखना की व्युत्पत्ति सत्+लेखना अर्थात् सम्यक् प्रकार कृश करना है, जिसका तात्पर्य होता है भली प्रकार घटाना। क्या घटाना? बाहरी आवश्यकता और भीतरी कलुषता। इन्हें ही काय एवं कषाय-सल्लेखना अथवा बहिरंग एवं अंतरंग सल्लेखना कहते हैं। काय-सल्लेखना से शरीरगत विषैले-तत्त्वों से मुक्ति, भारीपन का अभाव, कष्ट-सहिष्णुता में वृद्धि और आलस्य आदि का निवारण

सहज हो जाता है। कषाय-सल्लेखना चित्तगत मोह, राग एवं द्वेष का निराकरण करके मन को शान्त एवं प्रसन्न बनाती है। इस प्रकार तन-मन की निर्मलता प्राप्त होने पर विदाई की बेला मंगलमय बन जाती है, मातमरूप नहीं। यही कारण है कि **एक मृत्यु-महोत्सव, अनेक जन्मोत्सवों से बढ़कर है।** आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने इसकी व्यवस्थित प्रक्रिया रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में सुंदर ढंग से प्रदान की है :-

"सर्वप्रथम स्नेह-वैर का बन्धन तोड़कर 'यह पुत्र-स्त्री आदि मेरे हैं, और मैं इनका हूँ', इत्यादि सर्व संबंध छोड़कर, बाहर-भीतर के परिग्रह का परित्याग कर शुद्धमना होते हुए मधुर वचनों द्वारा स्वजन-परिजनों से अपने आपको क्षमा कराएँ। उनसे क्षमा-याचना करने से पहले स्वयं सभी को क्षमा करें। पश्चात् गुरु-चरणों का आश्रय लेकर उन्हें अपने सभी प्रकार के दोष निश्छल होकर बता दे और प्रायश्चित्त स्वीकार करके उन्हीं निर्यापकाचार्य (सल्लेखना-गुरु) से अपने ऊपर पञ्च-महाव्रतों का आरोपण करा ले अर्थात् महाव्रतों के संस्कारारोपण गुरु से कराएँ। यह व्रतारोपण मृत्यु-पर्यन्त हो। अब शोक, भय, अवसाद (खेदखिन्नता), प्रेम, कलुषता और अप्रीति के भाव समाप्त करके अपने बल एवं उत्साह को प्रकट करके अमृतमयी शास्त्र-वचनों द्वारा मन को निर्मल बनाएँ। कातरता छोड़ दे। तदुपरान्त क्रमशः ठोस-आहार को घटाकर स्निग्ध-पेय को बढ़ाएँ। पश्चात् स्निग्ध-पेय भी त्याग कर खरपान द्वारा उदरपूर्ति करें अर्थात् कांजिकाहारादि से काम लें। अन्ततः शुद्ध-जल पर आ जाए। अपनी शक्ति देख कर उसका भी त्याग करके उपवास अंगीकार करें और पञ्चनमस्कार में मन लगाकर सावधानीपूर्वक अपनी आयु पूर्ण करें, देह विसर्जित करें।"

[र०क०श्रा० श्लोक १२४-१२८]

वक्तव्य यहाँ पूर्ण नहीं होता, तथापि विज्ञ-जनों के लिये संकेत ही पर्याप्त मान यहाँ लेखनी को विराम दिया जाता है।

॥ ॐ शांतिः ॥

—क्षुल्लक ध्यानसागर

How to die a graceful death?

(By Late Shri Champat Rāi Jain, Bar-at-law)

The one undertaking or business of the *sādhu* is the overthrow of death, which is held in the utmost dread by the generality of mankind. The *sādhu* aims at its destruction from the very commencement. nay, he cannot be said to have any other aim or ambition in life than the mastery of this most dreaded of foes. He gave up all undertakings and occupations on the eighth step *(pratimā)* of the householder's path distributed and gave away all his possessions, excepting a few wearing apparel, on the ninth step, renounced all concern with worldly matters on the tenth step and dissociated himself with all else except the strip of a *laṅgoṭī*, the feather whisk and the bowl on the eleventh. The *laṅgoṭī*, too, is gone now ! In a word he has no earthly ambitions and pursuits left to obsess his mind as a *sannyāsī*. Personal comforts he no longer seeks, for he has his body completely under control, having risen even above the automatism of bodily functions, such as excretion, urination and the like, to a very great extent. He enjoys the bliss appertaining to his real nature now all the time, that he can remain absorbed in the **samādhi** (undisturbed attitude) of Self contemplation, but he knows that the happiness, he thus enjoys, is but a shadow of the real thing, though enrapturing even as such. He longs to remove the cause which stands in the way of his enjoyment of real bliss. With respect to knowledge also, he knows that there are infinitely greater treasures in the soul than he is able to avail himself of in his present state, and he

is anxious to reach the all-embracing all-sufficing knowledge speedily. The same is the case with life which has the terrible monster–Death–staring it in the face! The saint knows that immortality is the nature of the soul and he is bent on the destruction of the causes that stand between him and life abundant and infinite and full. He further knows that the one cause of all these short-comings and troubles of his is the association of matter, which is also the form which the dreaded Foe, namely, Death, assumes and without the disruption of which it cannot be overpowered. He believes that the tearing asunder of Spirit from matter is possible, but only for him who is endowed with the most resolute iron will. He is aware of his own deficiency in respect of the requisite quality of will, without which Self contemplation, the cause of Seperation between Spirit and Matter, cannot be accomplished in the desired way. This means that he cannot hope to conquer Death in one life, but expects to train himself steadily for the final contest, through a course of training extending over several (usually from three to five) lives. Nor is he dismayed at the prospect of delay; for what is a delay of four or five lives, as compared with the infinity of lives he had had in the infinity of time that is known as the past, and the infinity of those the soul shall have to assume in the future, as an unemancipated ego? The *sādhu* knows that merit acquired in one life is not destroyed or nullified by death, but becomes the main factor in the shaping of the conditions of the next life and leads to desirable and beneficial kinds of reincarnations in the future. Thus, the amount of

indomitable iron will, which he develops, now will secure for him a rebirth in conditions and surroundings that will make it easier in the next life to adopt and practise the rules of Right Conduct. He, therefore, issues his challenge to the terrible Foe in language such as this : 'I know, I am not able to destroy thee in this life, or in the next one to come, or even in the one following the next one. I shall, therefore, be unable to resist being devoured by thee for some time yet; but I shall so arrange matters that each time that I pass down thy omnivorous throat, I may be developing my will more and more. Thus if I have no will to defy thee with this time, next time I shall have an ounce of it, and in the second, about a pound, then a ton, and, finally, an irresistible, inexhaustible store! Then I shall crush thee through the fingers of my hand, so to speak. Beware, then and let my challenge be registered!' The challenge thrown out, the *sādhu* is never afraid of death, but seeks to encounter it, howsoever and wheresoever it may come. He does not for that reason run away from any place, nor turn away, through fear, from any situation in which he finds himself placed. As already said, life has but one occupation for him now–the conquest of the eternal enemy and he goes about fearlessly, ready to face it any-where and at any time, unflinchingly. If he is insulted or attacked by man or beast or even by any form of super-human agency, he will not move an inch, but will strive his utmost to remain absolutely tranquil and unruffled, avoiding even the cherishing of an angry thought in his mind. He has destroyed all sense of attachment to his body, and

cannot, therefore, regard its afflictions and inflictions as his own in any sense. He who beats or insults his body, therefore, does nothing which he can or ought to resent. Similarly, he has no love left in him for his personality—the name which he bore when he was not ordained, and the appurtenant personal paraphernalia that he possessed as a householder. It is not possible for any one to disturb him by slandering his good name, for that reason. When attacked, he does not even wish for a speedy termination of the assault or trouble or discomfort. He simply turns his attention inwards and throws himself in the attitude of *kāyotsarga* (detachment from the body), till the assault be over or death put an end to the trouble. The idea of a flight will never enter his mind; for what should one be not afraid of, but rather anxious to meet, death fear or flee from?

There are five kinds of deaths, namely

(1) *Paṇḍita Paṇḍita* (literally, wise wise, hence the Master's)
(2) *Paṇḍita* (the wise-man's)
(3) *Bāla-Paṇḍita* (literally, child-pandita's)
(4) *Bāla* (literally, Child's) and
(5) *Bāla-bāla* (literally, child-child, hence the fool's)

The Master's 'death' is the dissociation between Spirit and Matter, as in the case of the *Tīrthaṅkara*, whose body is dispersed, and vanishes like camphor, leaving the Spirit pure and undefiled, which as such immediately ascends to the topmost part of the Universe, to reside there, for ever in the enjoyment of Infinite, All-embracing Knowledge, Infinite Perception, Unending Bliss, Infinite Life, that is Immortality, and all other Divine attributes.

The Wiseman's mode is the death of the saint. He dies but in a tranquil state, neither grieving for nor lamenting the approach of the end in any way.

The *Bāla-Paṇḍita* is the death of the self-controlled, partly-disciplined householder, whose interior is illumined with Right Faith.

The *bāla* form of death is the death of the uncontrolled true believer.

The *bāla-bāla* signifies the mode of dying of the soul that is steeped in ignorance and wrong-living. The difference between the *bāla* and the *bāla-bāla* death lies in the fact that the former is the death of a faithful but undiciplined being, while the latter is the death of the very worst type, implying ignorance and want of selfcontrol.

The *Paṇḍita-paṇḍita* 'death' leads to the immediate realization of the coveted Supreme Status. It is no death at all, in reality, being simply a translation to the Abode of Gods, the pure Perfect Souls in *nirvāṇa*.

The *Paṇḍita* death leads to the highest heavens, where the saint enjoys great felicity and pleasure for very very long periods of time, whence descending he is reborn, in due course, in auspicious and desirable surroundings amongst men. Here he soon finds himself surrounded by all sorts of felicities and facilities and inducements for the acquisition and practising of the Right Faith.

The *bāla-paṇḍita* death leads to lower heavens, where also the felicity is great. The *bāla-paṇḍita* soul also is reborn amongst men on the termination of the heavenly incarnation. The *bāla* death leads to a human birth, and may even lead to heaven in

favourable circumstances.

The *bāla-bāla* death always leads to undesirable conditions, except where *tapaścharaṇa* (asceticism) is practised under the influence of a faith which, though not of the right sort, enjoins its practising, in which case the individual will reach lower heavens, and all will subsequently, in ordinary cases, be reborn amongst men under inauspicious circumstances. In the worst cases, the *bāla-bāla* death is the source of the most undesirable conditions and surroundings. The soul is sure to descend into hells, which may be for a very very long term of life, in the very worst cases. Those who die in the *bāla-bāla* mode generally descend into the animal kingdom and may be reborn amongst minerals and plants. Some even sink back into what is known as *nigoda*, which is almost like an unending eternal stupor.

The *bāla-bāla* death will also lead to a human birth where some sort of active goodness is present to modify the effect of evil and vicious ignorance.

The form of the future rebirth is usually fixed about the time that a third of the life-force (the force of longevity) remains to be gone through in any particular form. If it is not fixed then, it will be fixed when a third of that third remains to be gone through, and again, if not determined even then, when a third of the remainder is left to live, and in any case at the moment of death. But what is fixed in this manner is the general type of the *gati* (one of the four main types of embodied existence, namely, human, celestial, sub-human and hellish). The actual form and other attendant cirumstances

would seem to depend on the nature of the thoughts and feelings actually prevailing in the mind at the moment of death, so that where these are characterized by tranquillity, self-knowledge, and veneration for the *Tīrthaṅkaras,* Liberated Ones, Saints and Scripture, the conditions of rebirth will be of the most auspicious and the least undesirable type; and vice versa. It would thus seem that the two psychical or psychological factors which play the greatest part in the determination of the nature of the future re-incarnation are character and feeling, the former determining the *gati*, and the latter the actual grade of beings in the particular *gati*. The *sādhu*, therefore, does not suffer death to come to him unprepared, but detemines to control his disposition and inner feeling both. The former is altered by the acquisition of Right Faith and illumined with the light of Right Knowledge, and the latter is controlled by the rules of constituting Right Conduct. Hence, where Right Faith is acquired too late, that is to say after the type of the *gati* has been fixed for the future rebirth, it is powerless to replace it in that very life, though, short of this, it will do much to modify, for the better, the nature of the conditions of existence within it. This is because the stamp of disposition once firmly impressed on the *kārmaṇa-śarīra* (an invisible inner body which is the repository of character) is indelible for that life, though capable of modification by subsequent deeds to a very great extent. Thus, if a person has already incurred the liability to be reborn in the *tiryañca gati* that embraces all forms of the mineral, the vegetable and the animal kingdoms, and

includes even the lowest and therefore the most undesirable form of life, known as *nigoda*, no subsequent change of beliefs, on his part, in that particular incarnation, can cancel the liability that has been incurred, though the tinge of his prevailing convictions and thoughts at the last moment of life may be such as to lead him to be reborn amongst the best forms of existence within its range. Similarly, if a person has engendered the *karma* for a rebirth in hell, it is possible for him by his subsequent good action and right beliefs to reincarnate in the best of the conditions that are available in the *gati* or to descend to the lowest and the most dreadful of its grades by further perverse thinking and living.

The death the saint aspires to attain to is termed *samādhi-maraṇa* or *sallekhanā*, that is to say the death of self-control. Even advanced householders aspire for this auspicious form of death. The saint does not like to die like a fool, as a rat in a trap, so to speak. He selects his own time and conditions for death. He perfects himself for it through a long course of training, so that he should not flinch or be deterred in his resolution at the moment of the superme test. The course recommended extends over a period of twelve years, which is to be divided into six unequal parts and devoted to the performance of desire-eradicating asceticism. The first four years he should devote to the special form of *tapas* known as *kāyakleśa* (bodily afflictions), to be followed by a similar period characterized by the avoidance of the six *rasas*, namely, (1) milk (2) curds (3) ghee

(clarified butter) (4) oils, (5) sugar and (6) salt. Of the remaining four years, two are to be spent in reducing the quantity of food and the avoidance of the *rasas*, then a year in living on reduced "rations", after which six months should be spent in performing some sort of less trying asceticism, and the last six months, in practising some of its severes. Thus disciplined the saint may hope to be able to control his inner conditions and future destiny both at the moment of death.

The time for *sallekhanā* death should be such as is pleasant, and not likely to add to the discomfort of the saint. The place should also be one where trouble and inconvenience and discomfort are not very likely to be encountered. The saint, who peforms *sallekhanā,* places himself under the guidance of a well qualified and experienced *āchārya* (leader of saints), who superintends the ceremony, and appoints other saints to take care of and attend upon him.

Sallekhanā is performed either at a time deliberately chosen, or in case of accidents when the probability of death is almost tantamount to a certainty. If there be doubt, and the saint is not willing to undertake *sallekhanā* at once, he should adopt a qualified vow for a certain period of time, after which *sallekhanā* is to be terminated if death does not occur in the interval, but there is no other difference between the qualified and the regular form.

Even when deliberately undertaken, *sallekhanā* death is not suicide. It is not inspired by any of those sorrowful or gloomy passionate states of the

mind that amount to an unhinging of the mental balance and imply a fit of temporary insanity characteristic of a suicide's mind. On the other hand, it is characterised by the utmost degree of mental clarity and urged by the pious ambition to control one's destiny, and through it, ultimately, death itself. As said in the Householder's *Dharma* :

*"**Sallekhanā** death must be distinguished from suicide. It is undertaken only when the body is no longer capable of serving its owner as an instrument for the observance of **Dharma**, and when the inevitabiliy of death is a matter of undisputed certainty. In such cases, when life may be said to confess judgment to the claim of death, the adoption of the **sallekhanā** attitude is calculated to directly strengthen the soul and to prevent its future rebirth in any but the best surroundings. Those who adopt the **sallekhanā** vow, immediately become self-composed and self centred; they cease to be agilated by personal considerations and suffering and rise above the cravings and longings of the world. The result of the terribly resolute frame of mind implied in the **sallekhanā** vow on the departing soul is simply wonderful and immediately raises its rhythm, lifting it out of the slough of despond and negativity. The man who wanders or tosses about, hither and thither, weeping and crying, in the closing moments of life, and spends the little time at his disposal in making vain efforts to avoid the unavoidable, is nowhere compared with him who, realizing the hopelessness of the*

endeavour to save his life earnestly applies himself to control his destiny. The result is that while the latter attains to ***deva*** *birth in the highest heavens, the former only finds himself in painful and uneviable circumstances and surroundings'.*

Except as indicated above, *sallekhanā* is forbidden in the Scripture of Truth, as will be evident from the following from the *"Bhagawatī Ārādhanā"* (by *St. Śivakoṭī*) :–

"Bhakta-pratyākhyāna maraṇa (sallekhanā) *is not proper for him who has many years of saintly life before him, who has no fear of starvation from a great famine, who is not afflicted by an incurable disease, and who is not faced by any sudden cause of death. Whoever desires to put an end to his life, while still able, with his body, to observe the rules of the* ***Dharma*** *and of the Order properly, he falls from the true Path!"*

The *sādhu*, intent upon the observance of the *sallekhanā* vow, begins by giving up solid foods, taking to such sustaining liquids as milk, curds, whey and the like, and finally, comes down to hot water, which too is given up as soon as he is able to sustain himself on the strength of his indomitable will. He now refrains from all kinds of foods and drinks till the last moments of life. If trouble comes and the cravings of hunger and thirst are overpowering, he engages himself in holy meditation, going over in his mind the amount of food and water which he has taken in the course of the infinity of lives through which he has passed, on

the infinity of time that is known as the past. If the quantity that has been absorbed by him thus far has not produced satiety or satisfaction, it is not likely that what he could take now in the shape of food and drink would do so either! Thus, by dwelling upon his undisciplined past, and comparing the horrors of the different grades of life, through which he has passed as an incarnating ego, with the advantages arising from self-discipline, he is soon enabled to destroy the longings of the fleshly nature; and under the instruction of the holy *āchārya*, who is at all times watchful over his great undertaking and ever ready to dispel disturbing agitation, with the ambrosia of sweet discourse, speedily overcomes all forms of distractions.

With reference to attending to the bodily comforts and needs, there are three kinds of the *paṇḍita* death which the saint aspires to attain. These are :

(1) the *prāyopagamana*, which precludes attending to bodily needs and comforts altogether,

(2) the *ingini maraṇa*, that admits of one's attending on one's self, but forbids receiving help or assistance from another, and

(3) the *bhakta pratijñā* that permits attendance and service of both kinds.

Of these, naturally, the first kind of the *paṇḍita maraṇa* is regarded as the most meritorious, as it leads to the greatest development of the will. The next in the order of merit is the *ingini maraṇa*, and last of all comes the *bhakta pratijñā*. The saint performing the *prāyopagamana* mode of *sallekhanā* death becomes, towards the end of the process,

completely estranged, in thought, from his body, which is henceforth allowed to lie like a log of wood, uncared for and unattended by its owner, who does not allow any one else either to attend to its needs. Massage and the cleaning of the bodily impurities with purified water is permitted in the other two forms of the *sallekhanā* death.

In addition to saints, even householders may join in the service of a *sādhu* that is embarked on *sallekhanā* death, and they can render valuable service when he is unable to move about from enfeeblement, by arranging to have their own food prepared nearer to his residence, thus placing themselves in a position to offer him suitable food, nearer at hand, in strict accordance with the rules.

In addition to those forms of help already referred to, the purification of his seat, the *kamaṇḍalu* and the *picchi* may also be done for him by another. At night he may lie on smooth even ground after it has been duly seen to be free from insect-life, or use a mat of straw or dry grass, a wooden plank or a slab of stone. These will have to be 'insect-freed' likewise. Towards the end of the *sallekhanā* death the saint endeavours to conquer sleep itself, and spends the whole of his time in holy meditation.

Those who attend on a saint duly set out on the accomplishment of the *sallekhanā* death, should be endowed with great faith and wisdom, and should refrain from all kinds of show of sentimentalism that might cause him to waver in his resolution or to be agitated in thought. They should exclude all undesirable visitors and hangers-on and should

always endeavour to strengthen him in his arduous faith and conduct, by means of the narration of stories of great ascetics who have successfully gone through the trying ordeal, as well as of discourses on the merit of *dharma*, propounding the doctrines of Faith and describing the terrible sufferings which unemancipated souls have undergone and shall have to undergo in their migratory career in the future.

The effect of these narrations is extremely soothing, and wonderful alltogether. It brings into manifestation something of the higher energy of the spiritualised will, that is an attribute of the soul, and that speedily puts an end to all kinds of lower cravings and undesirable forms of feelings filling the mind with the utmost degree of *vairāgya* (spirit of renunciation). With his soul resting, as it were the unshakable rock of Right Faith, his mind illumined with the light of pure Truth, that is Right Knowledge, and his actions all regulated and controlled by the highest form of will-developing *vairāgya*, namely Right Conduct, the saint is more than a match, for evil *karma* and the pain that is the progeny of *karma*. He disregards his suffering as a champion-athlete disregards the few scratches that he gets in a scuffle against his adversary. Thus filled with the spirit of holiness and *vairāgya*, he recites the great Obeisance *mantram* (auspicious formula) till the mortal coil is shuffled off, and *sallekhanā* terminates in a rebirth in the soul-enrapturing scenery and surroundings of the heavenly regions, the abodes of *devas* (celestial **beings).**

****

मृत्यु-महोत्सवः

मृत्यु-मार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागो ददातु मे ।
समाधि-बोधि-पाथेयं, यावन्मुक्ति-पुरी पुरः ॥१॥

अन्वयार्थ–(**यावत्**) जब तक (**मुक्ति-पुरी**) मुक्तिरूपी नगरी (**पुरः**) सम्मुख न आ जाए, (**वीतरागः**) वीतराग भगवान् (**मृत्युमार्गे**) मृत्यु-मार्ग पर (**प्रवृत्तस्य मे**) अग्रसर मुझे (**समाधि-बोधि-पाथेयं**) समाधि और बोधिरूपी पाथेय (**ददातु**) प्रदान करें।

जीर्ण हुई मम जीवन-रेखा, आज अतः मेरे स्वामी !
हुआ मृत्यु की ओर अग्रसर, बनकरके शिवपथगामी।
जब तक मोक्ष-नगर ना आए, मुझे मार्ग का व्यय देना,
देना बोधि-समाधि साधना, काया में कितना रहना ?॥

अन्तर्ध्वनि : अरहंतदेव मुझ सल्लेखनाधारी साधक/क्षपक को, जो मरण के सन्मुख हूँ, बोधि अर्थात् रत्नत्रय का लाभ एवं समाधि अर्थात् समता/शुद्धोपयोग प्रदान करें, जो मेरे लिए मोक्ष जाने तक संबल बने।

Essence : May the passionless Lord Jinendra grant me now advancing towards the last moments of this life, provisions like Bodhi i.e. the acquirement of 3 divine jewels viz. Correct faith, wisdom and conduct, and also *Samādhi* i.e. deep trance for my journey to Liberation, that can energise me on the way till the goal is achieved.

कृमि-जाल-शताकीर्णे, जर्जरे देह-पञ्जरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञान-विग्रहः ॥२॥

अन्वयार्थ–(**कृमिजालशताकीर्णे**) सैकड़ों जीव-जन्तुओं के समूह से व्याप्त (**जर्जरे**) जीर्ण-शीर्ण (**देहपञ्जरे**) देहरूपी पिंजरे के (**भज्यमाने**) नष्ट होने पर (**न भेतव्यं**) भयभीत नहीं होना चाहिए (**यतः**) क्योंकि (**त्वं**) तुम (**ज्ञान-विग्रहः**) ज्ञान-शरीरी हो।

कृमि-गण-पूरित, जरा-जर्जरित, कारा है मानव-काया,
अपने कर्म-उदय के कारण, मैंने यह बंधन पाया।
यदि यह नश्वर नष्ट हो रही, मैं काहे को घबराऊँ?
मैं हूँ ज्ञानशरीरी चेतन, क्यों समाधि ना अपनाऊँ?॥

अन्तर्ध्वनि : देह एक पुराना एवं जीव-जन्तुओं से भरा पिंजरा है, अतः हे आत्मन् ! इसके नष्ट होने पर तुझे भयभीत होने की क्या आवश्यकता है ? तू तो ज्ञानशरीरी है न !

Essence : This old body-cage is filled with several hundreds of minor living-beings like worms etc. If death destroys it there is no question of panic, because O living-being! your true body is knowledge.

ज्ञानिन् ! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं याति, देही देहान्तर-स्थितिम् ॥३॥

अन्वयार्थ–(**ज्ञानिन् !**) हे ज्ञानी जीव ! (**मृत्यु-महोत्सवे**) मृत्यु-महोत्सव के (**प्राप्ते**) प्राप्त होने पर (**भयं**) भय (**कस्मात्**) किससे (**भवेत्**) हो सकता है ? (**देही**) जीवात्मा (**स्वरूपस्थः**) स्वरूप-स्थित हो (**देहान्तरस्थितिं पुरं**) अन्य देह में स्थितिरूप नगर को (**याति**) प्राप्त होता है ।

जब कोई जन धूम-धाम से, अन्य-नगर रहने जाता,
नव-निवास के शुभ-अवसर पर, वह न तनिक भी घबराता ।
मृत्यु-महोत्सव की बेला में, ज्ञानी ! तुमको भय कैसा ?
आत्मलीन चेतन को नूतन, तन मिलता कंचन जैसा ॥

अन्तर्ध्वनि : हे ज्ञानी जीव ! तेरी मृत्यु एक महोत्सव बनकर आयी है । रत्नत्रय-स्वरूप में स्थित आत्मा अब इस जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ एक दिव्य नवीन शरीर में रहने जा रही है । घर बदलते समय डर कैसा ? यह तो आनन्द का अवसर है ।

Essence : O wise aspirant ! on the occasion of your Death-festival what is there to be afraid of ? The soul absorbed in its own nature, peace, is just getting transfered to a new city i.e. an ultra fresh body !

सुदत्तं प्राप्यते यस्माद्, दृश्यते पूर्व-सत्तमैः ।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं, मृत्यु-भीतिः कुतः सताम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(**सतां**) सत्पुरुषों के पास (**मृत्युभीतिः**) मृत्यु का भय (**कुतः**) कैसे (**दृश्यते**) देखा जा सकता है, (**यस्मात्**) जिस मृत्यु के कारण (**पूर्वसत्तमैः**) पूर्ववर्ती सत्पुरुषों के द्वारा (**सुदत्तं**) सुपात्रों को प्रदत्त दान (**प्राप्यते**) प्राप्त और (**स्वर्भवं**) स्वर्ग में होनेवाला (**सौख्यं**) सुख (**भुज्यते**) उपभुक्त हुआ है ?

सत्पुरुषों ने सत्पात्रों को, जो-जो उत्तम-दान दिया,
स्वर्ग-सुखों के संग उसे फिर, मृत्यु-कृपा से प्राप्त किया।
तब सज्जन क्यों डरे मृत्यु से, जो चेतन को हितकारी ?
इष्ट-प्रदाता को इस जग में, कौन कहेगा अपकारी ?॥

अन्तर्ध्वनि : पूर्ववर्ती भव्य-जीवों ने मृत्यु की कृपा से ही सुपात्रों को प्रदत्त दान का फल एवं स्वर्गीय सुख प्राप्त किये थे। ऐसे पुण्य-फल को प्रदान करनेवाली मृत्यु से सदाचारी मनुष्य क्यों घबरायेगा ? अर्थात् सत्पुरुष में मृत्यु-भय दृष्टिगोचर नहीं हो सकता।

Essence : How can the fear of death possess gentlemen, who, since olden times, by death's grace, have acquired the fruits of their auspicious deeds like charity for benevolence and for religious guides and also enjoyed the divine pleasures of Paradise ?

आगर्भाद्दुःख-सन्तप्तः, प्रक्षिप्तो देह-पञ्जरे ।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु-भूमिपतिं विना ॥५॥

अन्वयार्थ—(**आगर्भात्**) गर्भावस्था के प्रारम्भ से (**देह-पञ्जरे**) देहरूपी पिंजरे में (**प्रक्षिप्तः**) डाली गयी (**दुःखसन्तप्तः आत्मा**) दुःखों से सन्तप्त आत्मा (**मृत्युभूमिपतिं विना**) मृत्यु-रूपी राजा के बिना (**अन्येन**) अन्य द्वारा (**न**) नहीं (**विमुच्यते**) विमुक्त की जाती।

तन-पिंजरे में पड़ी हुई है, आत्मा गर्भ-अवस्था से,
आकुल-व्याकुल है इस तन की, कर्माधीन-व्यवस्था से।
ज्यों बन्दी को बन्दी-गृह से, राजा बन्धन-मुक्त करे,
मृत्युराज बिन तन-बन्धन से, कौन मुझे निर्मुक्त करे?॥

अन्तर्ध्वनि : तन-पिंजरे में कर्मों द्वारा बन्धन-बद्ध आत्मा ने गर्भावस्था से अनेक कष्ट उठाए हैं। मृत्युरूपी राजा के अतिरिक्त ऐसा कौन है जो मुझे इस कारावास से मुक्त कर सके ?

Essence : In the mother's womb itself your soul has been put behind the bars in this body-cage, who else, but King Death can grant you freedom from this imprisonment ?

सर्व-दुःख-प्रदं पिण्डं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः ।
मृत्यु-मित्र-प्रसादेन, प्राप्यन्ते सुख-सम्पदः ॥६॥

अन्वयार्थ–(**मृत्यु-मित्र-प्रसादेन**) मृत्युरूपी मित्र के प्रसाद से (**सर्वदुःखप्रदं पिण्डं**) सर्व दुःखों को प्रदान करनेवाले पिण्ड–शरीर को (**दूरीकृत्य**) दूर करके (**आत्मदर्शिभिः**) आत्मदर्शी जनों द्वारा (**सुख-सम्पदः**) सुख-सम्पदाएँ (**प्राप्यन्ते**) प्राप्त की जाती हैं।

नर-तन पा नर नर्तन करता, कारण यह मोही-मन है,
सब दुःखों को देनेवाला, दुष्ट-पिंड यह नर-तन है।
इसी पिंड से पिंड छुड़ाकर, मृत्यु-सखा सुख देता है,
आत्मदर्शियों से प्रतिफल में, स्वयं नहीं कुछ लेता है॥

अन्तर्ध्वनि : आत्मदर्शी साधक मृत्युरूपी मित्र की कृपा से ही सर्व दुःखों के पिंड इस शरीररूपी पिंड़ से पिंड छुड़ाकर सुख-संपत्ति को प्राप्त करते हैं ! मृत्यु-मित्र से भय कैसा ?

Essence : Those who have attained self-realization, acquire pleasures and treasures only after setting apart this body, a torture-filled trouble-giving pest, through the grace of their 'friend in need', Death !

मृत्यु-कल्प-द्रुमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधितः ।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥७॥

अन्वयार्थ–(**येन**) जिसके द्वारा (**मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते**) मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर (**आत्मार्थः**) आत्म-हित (**न साधितः**) नहीं साधा गया, (**जन्मजम्बाले**) संसाररूपी कीचड़ में (**निमग्नः सः**) निमग्न वह (**पश्चात्**) आगामी काल में (**किं करिष्यति**) क्या कर लेगा ?

जिसको अवसर प्राप्त न होता, उसे न कोई चारा है,
पर जो अवसर पाकर खोता, वह दुर्मति का मारा है।
मृत्यु-कल्पतरु को पाकर भी, जो हित-साधन ना करता,
वह बिगाड़ता निज-भविष्य को, जन्म-पंक से ना तरता ॥

अन्तर्ध्वनि : वास्तव में समाधिमरण कल्पतरु है। अवसर प्राप्त करके भी जो कुमरण करते हैं, आत्मा का हित नहीं साधते, वे मनुष्य भव को खोकर संसार के कीचड़ में जा पड़ते हैं। स्वर्णिम अवसर को गँवानेवाले अभागे मानव अपना भव बिगाड़कर भविष्य में क्या आत्म-कल्याण करेंगे ?

Essence : A fool, who doesn't accomplish his soul's goal even on finding this wish-fulfilling tree, Death, would then accomplish what, after sinking in the quicksand of this misery filled world ?

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय, सतां सातोत्थितिर्यथा ॥८॥

अन्वयार्थ–(**यतः**) जिससे (**जीर्णं देहादिकं**) जीर्ण देहादि (**सर्वं**) सर्व (**नूतनं**) नवीन (**जायते**) हो जाते हैं, (**सः मृत्युः**) वह मृत्यु (**किं**) क्या (**सतां**) सत्पुरुषों के (**मोदाय**) हर्ष के लिए (**न**) न होगी, (**यथा**) जिस प्रकार (**सातोत्थितिः**) पुण्य का उदय होता है ?

जीर्ण-शीर्ण देहादिक सारे, जिससे नूतन हो जाते,
उसी मृत्यु से मोही प्राणी, ना जाने क्यूँ घबराते।
पुण्य-कर्म का उदय मनुज को, ज्यों प्रमोद से भरता है,
देह-छूटना सत्पुरुषों को, त्यों आनन्दित करता है॥

अन्तर्ध्वनि : जिस मृत्यु से वृद्धावस्था द्वारा जर्जरित शरीर आदि यहीं छूट जाते हैं और नवीन सुन्दर देहादि प्राप्त होते हैं, क्या वह मृत्यु, पुण्योदय की भाँति, सज्जनों के मन को आनन्दित नहीं करेगी ? अवश्य करेगी।

Essence : As good luck delights gentlemen, would not Death too be glorious for them, by the grace of which the rotten old body etc. are replaced by fresh ones ?

सुखं दुःखं सदा वेत्ति, देहस्थश्च स्वयं व्रजेत् ।
मृत्यु-भीतिस्तदा कस्य, जायते परमार्थतः ॥९॥

अन्वयार्थ–(**देहस्थः**) देह में स्थित जीव (**सदा**) सदा (**सुखं दुःखं**) सुख-दुःख को (**वेत्ति**) जानता है (**च**) और (**स्वयं**) स्वयं (**व्रजेत्**) प्रयाण करता है (**तदा**) तब (**परमार्थतः**) परमार्थ से (**मृत्यु-भीतिः**) मृत्यु का भय (**कस्य**) किसे (**जायते**) हो सकता है ?

देह-निवासी चेतन अपने, सुख-दुख को देखे-जाने
और किसी दिन इसी देह से स्वयं निकलने की ठाने।
स्वेच्छा से जानेवाला क्या, कभी कहीं घबराता है?
न सल्लेखनाधारी नर को, यम कंपित कर पाता है॥

अन्तर्ध्वनि : शरीरधारी जीव सदैव सुख-दुख का वेदन करता है और आयु पूर्ण होने पर स्वतः शरीर को छोड़ जाता है। ऐसे में यथार्थतः मृत्यु-भय किसे हो सकता है ? अर्थात् जब जीव स्वयं स्थानान्तरित होता है, तब भय का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

Essence : Throughout the life, the soul experiences pleasures and pain, ultimately it itself discards the body. Actually who would then fear death, if he knew the fact that he himself is taking leave of his body ?

संसारासक्त-चित्तानां, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि, ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(**संसारासक्तचित्तानां नृणां**) संसार में आसक्त है चित्त जिनका, ऐसे मनुष्यों की (**मृत्युः**) मृत्यु (**भीत्यै**) भय के लिए (**भवेत्**) हो सकती है (**पुनः**) और (**सः अपि**) वह मृत्यु भी (**ज्ञानवैराग्यवासिनां**) ज्ञान एवं वैराग्यवासियों के लिए (**मोदायते**) आनन्दकारी होती है।

छोड़ न पाते विषय-सुखों को, जब छूटें, तब डरते हैं,
जो संसारासक्त बने वे, डरते-डरते मरते हैं।
लेकिन ज्ञान-विराग-निवासी, अनासक्त होते जाते,
और अन्त में हर्षित-मन हो, मृत्यु-महोत्सव को पाते॥

अन्तर्ध्वनि : संसार में आसक्त मनवाले जीवों की मृत्यु भय का कारण बनती है, क्योंकि वहाँ इष्ट-वियोग है; परंतु ज्ञान और वैराग्यसंपन्न जीवों की मृत्यु उन्हें भयभीत नहीं, आह्लादित कर देती है।

Essence : People, who's minds are engrossed in the wordly affairs, are of-course frightened of death. Those who dwell in wisdom and detachment, enjoy even death!

पुराधीशो यदा याति, सुकृत्यस्य बुभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन, प्रपञ्चैः पाञ्च-भौतिकैः ॥११॥

अन्वयार्थ–(**यदा**) जब (**पुराधीशः**) जीवात्मा (**सुकृत्यस्य**) पुण्य (**बुभुत्सया**) जानने की इच्छा से (**याति**) प्रयाण करता है, (**तदा**) तब (**पाञ्चभौतिकैः प्रपञ्चैः**) पञ्चभूत-संबंधी प्रपञ्चों के माध्यम से (**असो**) वह (**केन**) किसके द्वारा (**वार्यते**) रोका जा सकता है ?

पूजा, दान, पठन शास्त्रों का, जप-तप, सेवा गुरु-जन की,
दीन-दुखी जीवों पर करुणा, विधि है पुण्य-उपार्जन की ।
अपना अर्जित पुण्य देखने, जब चेतन तन से जाता,
पंचभूत के प्रपंच से तब, कोई रोक नहीं पाता ॥

अन्तर्ध्वनि : जब जीव अपने पुण्य-फल को जानने की इच्छा से इस अपवित्र देह को विसर्जित कर महाप्रयाण करता है, तब उसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के प्रपञ्चों द्वारा कौन रोक सकता है ? अर्थात् मरणोन्मुख मानव का मरण किसी भी विद्या से टाला नहीं जा सकता !

Essence : When the soul leaves this body to investigate its own auspicious deeds, who can prevent it through the treatments pertaining to the five bhūtas viz. water, air, fire, clay and space ?

मृत्यु-काले सतां दुःखं, यद्भवेद्व्याधि-संभवम् ।
देह-मोह-विनाशाय, मन्ये शिव-सुखाय च ॥१२॥

अन्वयार्थ–(**सतां**) सत्पुरुषों के (**मृत्युकाले**) मृत्युकाल में (**व्याधिसंभवं**) व्याधियों से उत्पन्न (**यत्**) जो (**दुःखं**) दुःख (**भवेत्**) होता है, (**मन्ये**) मैं समझता हूँ (**देहमोहविनाशाय**) देह-संबंधी मोह नष्ट करनेके लिए (**च**) और (**शिवसुखाय**) शिवसुख के लिए होता है।

मृत्यु-काल में सत्पुरुषों को, जो पीड़ा उठ आती है,
कर्म-जनित कुछ तीव्र व्याधियाँ, आकुलता उपजाती हैं।
मैं तो मानूँ यह पीड़ा ही, देह-मोह को दूर करे,
समता का अवसर प्रदान कर, शिव-सुख से भरपूर करे ॥

अन्तर्ध्वनि : मृत्यु के समय यदि कोई व्याधिजनित पीड़ा उत्पन्न हो जाये, तब अनिष्ट चिन्तन न करके यही समझना चाहिए कि यह पीड़ा मेरे देह-मोह को नष्ट करने आई है अथवा यह मानना चाहिए कि कष्ट के बिना सुख नहीं मिलता; यह कष्ट मुझे मोक्ष-सुख प्रदान करेगा, क्योंकि प्रतिकूलता में कर्मों का क्षय तीव्र-गति से होता है।

Essence : If during the end of their life, gentlemen have to face severe painful situations on account of disease, never mind it. In my opinion, this is for destroying bodily attachment and acquiring bliss of liberation.

ज्ञानिनोऽमृत-सङ्गाय, मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन्, भवेत्पाक-विधिर्यथा ॥१३॥

अन्वयार्थ–(**अस्मिन् लोके**) इस लोक में (**यथा**) जिस प्रकार (**आमकुम्भस्य**) कच्चे घड़े की (**पाकविधिः**) पाकविधि (**ताप-करः सन् अपि**) तापकारी होते हुये भी (**अमृतसङ्गाय**) जल के समागम के लिए (**भवेत्**) होती है, उसी प्रकार (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी की (**मृत्युः**) मृत्यु (**अमृतसङ्गाय**) अमरत्व के समागम के लिए होती है।

ज्यों घट देता अग्नि-परीक्षा, फिर जल-धारी बन पाता,
मृत्यु-परीक्षा देकर ज्ञानी, त्यों ही शिवपुर को जाता।
शीतलताधारी होना हो, तो आवश्यक है तपना,
मृत्यु-ताप से कातर-जन को, मोक्ष सदा रहता सपना ॥

अन्तर्ध्वनि : जिस प्रकार लोक में, कच्चे घड़े को अग्नि में तपा कर ही पकाया जाता है, पश्चात् वह जल को धारण करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार जो साधक समाधिमरण में तपकर खरा नहीं उतरा, वह मोक्ष के अमृत को अपने में धारण नहीं कर सकता।

Essence : How would a pot of clay, hold cool water unless it has been reddened on the hot flames of fire ? Likewise what wise-being, in this universe would attain the nectar of liberation without experiencing the heat of Death ?

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायास-विडम्बनात् ।
तत्फलं सुख-साध्यं स्यान्मृत्यु-काले समाधिना ॥१४॥

अन्वयार्थ – (**सद्भिः**) सत्पुरुषों द्वारा (**व्रतायास-विडम्बनात्**) व्रतों के पुरुषार्थ-संबन्धी क्लेश से (**यत् फलं**) जो फल (**प्राप्यते**) प्राप्त किया जाता है, (**मृत्युकाले**) मृत्यु-काल में (**समाधिना**) समाधि के द्वारा (**तत् फलं**) वह फल (**सुख-साध्यं**) सुखपूर्वक साधने-योग्य (**स्यात्**) हो सकता है।

सज्जन और विवेकी मानव, पाप-पंक से डरते हैं,
अतः व्रतों को धारण करके, उनका पालन करते हैं।
इस उद्यम का जो फल होता, उसको वह नर भी पाता,
जो बड़भागी मरण-काल में, सत्समाधि को अपनाता ॥

अन्तर्ध्वनि : जिस फल को सज्जन मनुष्य व्रताचरण-संबन्धी प्रयत्न के क्लेश उठाकर प्राप्त करते हैं, मृत्युकाल में समाधि द्वारा वही फल सुख-साध्य अर्थात् अनायास प्राप्त हो जाता है।

Essence : Man of character, on observing the inconveniences of their great vows, after much effort attains their fabulous fruits. These fruits are easily attainable for aspirants who get immersed in deep trance, at the end.

अनार्तः शान्तिमान् मर्त्यो, न तिर्यग्नापि नारकः ।
धर्म्य-ध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**अनार्तः**) पीड़ा-रहित, (**शान्तिमान्**) शान्ति-संपन्न (**मर्त्यः**) मनुष्य (**पुरः**) आगामी जन्म में (**न तिर्यक्**) न तिर्यञ्च, (**नापि**) न ही (**नारकः**) नारक होता है। (**धर्म्य-ध्यानी**) धर्म्यध्यानी एवं (**अनशनी मर्त्यः**) उपवासी मनुष्य (**तु**) तो (**अमरेश्वरः**) देवों का इन्द्र होता है।

जो नर शान्त-निराकुल होता, मरकर कष्ट नहीं पाता,
पशु-गति में वह जन्म न लेता, नरकों में भी ना जाता।
मरण-काल को निकट जानकर, जलाहार भी जो छोड़े,
धर्म-ध्यान करके वह नाता, स्वयं इन्द्र-पद से जोड़े॥

अन्तर्ध्वनि : जो दुःखी नहीं है, शान्त है, और जीवन के अन्तिम दिन उपवासपूर्वक धर्म्यध्यान में तत्पर हुआ है, वह तिर्यञ्च और नरकगति में उत्पन्न न होकर देवों का इन्द्र बनता है।

Essence : A human, who is not in pain but at peace, cannot reincarnate in the animal or plant kingdom nor can he ever drop down into the Hell. In the end, he who fasts and performs Dharma-dhyān—religious meditation, becomes the lord of celestial beings.

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**तप्तस्य**) तपे हुए (**तपसः च अपि**) तप का, (**पालितस्य**) पाले हुए (**व्रतस्य च**) व्रत का और (**पठितस्य**) पढ़े हुए (**श्रुतस्य**) शास्त्रका (**अपि**) भी (**फलं**) फल (**समाधिना**) समाधि-पूर्वक (**मृत्युः**) मृत्यु है।

तपे हुए तप का जो फल है, व्रत-पालन का अन्य नहीं,
और पढ़ा जो धर्म-शास्त्र को, उसका फल भी एक वही।
सकल-धर्म का वह अनुपम फल, प्रभुवर ने भव-हरण कहा,
जीवन मन्दिर, उच्च-शिखर व्रत, स्वर्ण-कलश सन्मरण महा ॥

अन्तर्ध्वनि : तपे गये तप का, पाले गये व्रत का और पढ़े गये शास्त्र का एक ही फल 'समाधिपूर्वक मरण का वरण' है।

Essence : The fruit of penances performed, vows observed and scriptures studied is one and the same—Deep trance at the time of Death!

अतिपरिचितेष्ववज्ञा, नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जन-वादः ।
चिरतर-शरीर-नाशे, नवतर-लाभे च किं भीरुः ॥१७॥

अन्वयार्थ–(**हि**) चूँकि (**इति जनवादः**) ऐसी लोकोक्ति है कि (**अतिपरिचितेषु**) अति-परिचितों में (**अवज्ञा**) अवमानना का भाव और (**नवे**) नवीन के प्रति (**प्रीतिः**) प्रीति (**भवेत्**) होती है, (**चिरतरशरीरनाशे**) अत्यन्त पुराने शरीर का नाश (**च**) और (**नवतरलाभे**) अतिशय नवीन का लाभ होने पर (**भीरुः**) भीरु (**किं**) क्या होना ?

जहाँ-कहीं अति-परिचय होता, वहाँ अवज्ञा हो जाती,
कहे दूर के ढोल सुहाने, प्रीति नये पर ही आती ।
करो भव्य ! चरितार्थ कहावत, जीर्ण-देह को जाने दो,
होकर अभय अहो ! चेतन को, अब नूतन-तन पाने दो ॥

अन्तर्ध्वनि : 'अतिपरिचय से अवमानना होती है और नवीन वस्तु से प्रीति' यह लोकप्रसिद्ध कहावत है । तेरा पुराना शरीर छूट रहा है और तुझे नया शरीर मिल रहा है, तब डरता क्यों है ?

Essence : 'Over-recognition provides neglect and newness produces attraction;' this is a folk-lore. When the old body is perishing and a new one is in store, why to fear death ?

स्वर्गादेत्य पवित्र-निर्मल-कुले, संस्मर्यमाणा जनै-
र्दत्वा भक्ति-विधायिनां बहुविधं, वाञ्छानुरूपं धनम् ।
भुक्त्वा भोगमहर्निशं पर-कृतं, स्थित्वा क्षणं मण्डले,
पात्रावेश-विसर्जनामिव मृतिं, सन्तो लभन्ते स्वतः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**स्वर्गात्**) देव-लोक से (**पवित्र-निर्मल-कुले**) पवित्र एवं निर्मल कुल में (**एत्य**) आ करके वे भव्य-जन (**भक्ति-विधायिनां**) भक्ति करनेवाले मनुष्यों के लिये (**बहुविधं**) अनेक प्रकार का (**वाञ्छानुरूपं**) इच्छानुकूल (**धनं**) धन (**दत्वा**) प्रदान कर (**जनैः**) सर्व-जनों द्वारा (**संस्मर्यमाणाः सन्तः**) संस्मृत होते हुए तथा (**अहर्निशं**) दिन-रात (**पर-कृतं**) पुण्य-प्रदत्त/इन्द्रिय-जनित (**भोगं**) सांसारिक-सुख (**भुक्त्वा**) भोग कर (**मण्डले**) भू-मण्डल पर (**इव**) मानों (**क्षणं**) क्षण भर के लिये (**स्थित्वा**) ठहरकर (**स्वतः**) स्वयं (**पात्रावेशविसर्जनां**) पात्र-संबंधी आवेश का है विसर्जन जिसमें, ऐसी (**मृतिं**) मृत्यु को (**सन्तो**) सन्त (**लभन्ते**) प्राप्त कर लेते हैं।

सुरपति का साम्राज्य भोगकर, नर-भव, सुकुल, सुयश पाते,
दान-पुण्य में अभिवांछित-धन, प्रभु-भक्तों पर बरसाते।
सुख-समृद्धि में जीवन के दिन, मानों पल में कट जाते,
भव का नाटक छोड़ अन्त में, सन्त स्वयं शिव-पद पाते ॥

अन्तर्ध्वनि : वे भव्य-जन स्वर्ग में दिव्य-देह पाकर, वहाँ से पुनः मनुष्यलोक में आकर, महापुरुषों के जन्म से पवित्र और दुराचार-रहित निर्मल कुल में उत्पन्न होकर, दान-पूजा में धन-व्यय करके लोक-प्रतिष्ठा पाकर, अहर्निश सांसारिक-सुख भोगकर, मानों क्षण भर ही धरती पर ठहरकर, अन्ततः नाटकीय-पात्र के आवेश/वेश को उतारने के समान संन्यास धारण कर परम-मृत्यु 'निर्वाण' को प्राप्त करते हैं। समाधि-मरण करनेवाला जीव ३-८ भवों में अवश्य मोक्षगामी होता है।

Essence : Returning back to earth from heaven, the aspirant gets birth in a pure, renowned dynasty, free from ill-conduct and vices. He grows up and acquires ample wealth which he spends in Lord's worship and charity to devotees, thus earning much name and fame. His long life is spent happily like a moment in pleasures. Ultimately, like a superstar discarding the costumes and emotions for the particular role played, he discards all and attains liberation through his last Death i.e. *Paṇḍita-Paṇḍita Samādhi maraṇa.*

समाधिमरण पाठ

(मृत्युमहोत्सव पाठ)

नरेन्द्र छन्द

बन्दौं श्री अरहंत परम गुरु, जो सबको सुखदाई ।
इस जग में दुख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई ॥
अब मैं अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर माँहीं ।
अन्त समय में यह वर मागूँ, सो दीजै जगराई ॥१॥

भव-भव में तनधार नये मैं, भव-भव शुभ संग पायो ।
भव-भव में नृपरिद्धि लई मैं, मात-पिता सुत थायो ॥
भव-भव में तन पुरुष तनों धर, नारी हूँ तन लीनों ।
भव-भव में मैं हुवो नपुँसक, आतम गुण नहिं चीनों ॥२॥

भव-भव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे ।
भव-भव में गति नरकतनी धर, दुख पायो विधि योगे ॥
भव-भव में तिर्यंच योनि धर, पाये दुख अति भारी ।
भव-भव में साधर्मीजन को, संग मिल्यो हितकारी ॥३॥

भव-भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो ।
भव-भव में मैं समवसरण में, देख्यो जिनगुण भीनो ॥
एती वस्तु मिली भव-भव में, सम्यक गुण नहिं पायो ।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो ॥४॥

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहिं कीनो ।
एक बार हू सम्यकयुत मैं, निज आतम नहिं चीनो ॥
जो निज पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुख काई ।
देह विनाशी मैं निजभासी, ज्योति स्वरूप सदाई ॥५॥

विषय कषायनि के वश होकर, देह आपनो जान्यो ।
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नाहिं पिछान्यो ॥
यो कलेश हिय धार मरणकर, चारों गति भरमायो ।
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदे में नहिं लायो ॥६॥

अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह मांगों ।
रोग जनित पीड़ा मत हूवो, अरु कषाय मत जागो ॥
ये मुझ मरण समय दुखदाता, इन हर साता कीजै ।
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यागद छीजै ॥७॥

यह तन सात कुधातमई है, देखत ही घिन आवै ।
चर्मलपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्टा पावै ॥
अतिदुर्गन्ध अपावन सों यह, मूरख प्रीति बढ़ावै ।
देह विनाशी, यह अविनाशी नित्य स्वरूप कहावै ॥८॥

यह तन जीर्ण कुटीसम आतम! यातैं प्रीति न कीजै ।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामें क्या छीजै ॥
मृत्यु भये से हानि कौन है, याको भय मत लावो ।
समता से जो देह तजोगे, तो शुभतन तुम पावो ॥९॥

मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माँहीं ।
जीरन तन से देत नयो यह, या सम साहू नाहीं ॥
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजै ।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समता भाव धरीजै ॥१०॥

जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई ।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई ॥
राग द्वेष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुखदाई ।
अन्त समय में समता धारो, परभव पंथ सहाई ॥११॥

कर्म महादुठ बैरी मेरो, ता सेती दुख पावै ।
तन पिंजरे में बंध कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै ॥
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढ़े ।
मृत्युराज अब आय दयाकर, तन पिंजर सों काढ़े ॥१२॥

नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तन को पहिराये ।
गन्ध-सुगन्धित अतर लगाये, षट् रस अशन कराये ॥
रात दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी ।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी ॥१३॥

मृत्युराज को शरन पाय, तन नूतन ऐसो पाऊँ ।
जामें सम्यक्रतन तीन लहि, आठों कर्म खपाऊँ ॥
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जगमाँहीं ।
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सब ही हैं दुखदाई ॥१४॥

यह सब मोह बढ़ावन हारे, जिय को दुर्गति दाता ।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता ॥
मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती ।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पावो सम्पति तेती ॥१५॥

चौ-आराधन सहित प्राण तज, तो ये पदवी पावो ।
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुकति में जावो ॥
मृत्यु कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मँझारे ।
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे ॥१६॥

इस तन में क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरन हो है ।
तेज कान्ति बल नित्य घट त है, या सम अथिर सु को है ॥
पाँचों इन्द्री शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहिं आवै ।
तापर भी ममता नहिं छोड़ै, समता उर नहिं लावे ॥१७॥

मृत्युराज उपकारी जिय को, तनसों तोहि छुड़ावै ।
नातर या तन बन्दीगृह में, पर्यो पर्यो बिललावै ॥
पुद्गल के परमाणु मिलकैं, पिण्डरूप तन भासी ।
यही मूरती मैं अमूरती, ज्ञान जोति गुण खासी ॥१८॥

रोग शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारे ।
मैं तो चेतन व्याधि बिना नित, हैं सो भाव हमारे ॥
या तन सों इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बन्यो है ।
खानपान दे याको पोष्यो, अब समभाव ठ न्यो है ॥१९॥

मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन, यह तन अपनो जान्यो ।
इन्द्रीभोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछान्यो ॥
तन विनशनतैं नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई ।
कुटु म आदि को अपनो जान्यो, भूल अनादी छाई ॥२०॥

अब निज भेद जथारथ समझ्यो, मैं हूँ ज्योतिस्वरूपी ।
उपजै विनसै सो यह पुद्गल, जान्यो याको रूपी ॥
इष्ट ऽनिष्ट जेते सुख दुख हैं, सो सब पुद्गल सागे ।
मैं जब अपनो रूप विचारों, तब वे सब दुख भागे ॥२१॥

बिन समता तनऽनंत धरे मैं, तिनमें ये दुख पायो ।
शस्त्र घाततैंऽनन्त बार मर, नाना योनि भ्रमायो ॥
बार अनन्त ही अग्नि माँहिं जर, मूवो सुमति न लायो ।
सिंह व्याघ्र अहिऽनन्तबार मुझ, नाना दुःख दिखायो ॥२२॥

बिन समाधि ये दुःख लहे मैं, अब उर समता आई ।
मृत्युराज को भय नहिं मानों, देवै तन सुखदाई ॥
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजै ।
जप-तप बिन इस जग के माँहीं, कोई भी ना सीजै ॥२३॥

स्वर्ग सम्पदा तप सों पावै, तप सों कर्म नसावै ।
तप ही सों शिवकामिनि पति है, यासों तप चित लावै ॥
अब मैं जानी समता बिन मुझ, कोऊ नाहिं सहाई ।
मात-पिता सुत बाँधव तिरिया, ये सब हैं दुखदाई ॥२४॥

मृत्यु समय में मोह करें, ये तातैं आरत हो है ।
आरत तैं गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है ॥
और परिग्रह जेते जग में तिनसों प्रीत न कीजै ।
परभव में ये संग न चालैं, नाहक आरत कीजै ॥२५॥

जे-जे वस्तु लखत हैं ते पर, तिनसों नेह निवारो ।
परगति में ये साथ न चालैं, ऐसो भाव विचारो ॥
परभव में जो संग चलै तुझ, तिन सों प्रीत सु कीजै ।
पंच पाप तज समता धारो, दान चार विध दीजै ॥२६॥

दशलक्षण मय धर्म धरो उर, अनुकम्पा चित लावो ।
षोड शकारण नित्य चिन्तवो, द्वादश भावन भावो ॥
चारों परवी प्रोषध कीजै, अशन रात को त्यागो ।
समता धर दुरभाव निवारो, संयम सों अनुरागो ॥२७॥

अन्त समय में यह शुभ भावहिं, होवैं आनि सहाई ।
स्वर्ग मोक्षफल तोहि दिखावैं, ऋद्धि देहिं अधिकाई ॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उर में समता लाके ।
जा सेती गति चार दूर कर, बसो मोक्षपुर जाके ॥२८॥

मन थिरता करके तुम चिंतौ, चौ-आराधन भाई ।
ये ही तोकों सुख की दाता, और हितू कोउ नाहीं ॥
आगैं बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी ।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी ॥२९॥

तिनमें कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाकै ।
भाव सहित वन्दौं मैं तासों, दुर्गति होय न ताकै ॥
अरु समता निज उर में आवै, भाव अधीरज जावै ।
यों निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये विच लावै ॥३०॥

धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी ।
एक श्यालनी जुग बच्चाजुत पाँव भख्यो दुखकारी ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३१॥

धन्य-धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो ।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतम सों हित लायो ॥ यह०

देखो गजमुनि के शिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी ।
शीश जले जिम लकड़ी तिनको, तो भी नाहिं चिगारी ॥ यह०

सनतकुमार मुनी के तन में, कुष्ठ वेदना व्यापी ।
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिंतो गुण आपी ॥ यह०

श्रेणिक सुत गंगा में डूबो, तब जिननाम चितारो ।
धर सलेखना परिग्रह छाँड़ो, शुद्ध भाव उर धारो ॥ यह०

समन्तभद्र मुनिवर के तन में, क्षुधा वेदना आई ।
तो दुख में मुनि नेक न डिगियो, चिंतो निजगुण भाई ॥ यह०

ललित घट आदिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बी तट जानो ।
नद्दी में मुनि बहकर मूवे, सो दुख उन नहिं मानो ॥ यह०

धर्मघोष मुनि चम्पानगरी, बाह्य ध्यान धर ठाड़ो ।
एक मास की कर मर्यादा, तृषा दुःख सह गाढो ॥ यह०

श्रीदत मुनि को पूर्व जन्म को, बैरी देव सु आके ।
विक्रिय कर दुख शीत तनो सो, सह्यो साधु मन लाके ॥ यह०

वृषभसेन मुनि उष्णशिला पर, ध्यान धरो मन लाई ।
सूर्य घाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सहि अधिकाई ॥ यह०

अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महावेदना पाई ।
बैरी चण्ड ने सब तन छेदो, दुख दीनो अधिकाई ॥ यह०

विद्युच्चर ने बहु दुख पायो, तौ भी धीर न त्यागी ।
शुभ भावन सों प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी ॥ यह०

पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घातो ।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण रातो ॥ यह०

दण्डक नामा मुनि की देही बाणन कर अरि भेदी ।
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी ॥ यह०

अभिनन्दन मुनि आदि पाँचसौ, घानी पेलि जु मारे ।
तो भी श्रीमुनि समताधारी, पूरब कर्म विचारे ॥ यह०

चाणक मुनि गोघर के माँहीं, मूँद अगिनि परजालो ।
श्रीगुरु उर समभाव धारकै, अपनो रूप सम्हालो ॥ यह०

सात शतक मुनिवर दुख पायो, हथनापुर में जानो ।
बलि ब्राह्मणकृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो ।। यह०

लोहमयी आभूषण गढ़ के, ताते कर पहराये ।
पाँचों पाण्डव मुनि के तन में, तौ भी नाहिं चिगाये ।। यह०

और अनेक भये इस जग में, समता रस के स्वादी ।
वे ही हमको हों सुखदाता, हर हैं टेव प्रमादी ।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन-तप, ये आराधन चारों ।
ये ही मोंको सुख की दाता, इन्हें सदा उर धारों ।।४९।।

यों समाधि उर माँहीं लावो, अपनो हित जो चाहो ।
तज ममता अरु आठों मद को, जोति स्वरूपी ध्यावो ।।
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामान्तर के काजै ।
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ शुभ कारण साजै ।।५०।।

मात-पितादिक सर्व कुटुम मिल, नीके शकुन बनावै ।
हलदी धनिया पुंगी अक्षत, दूध दही फल लावै ।।
एक ग्राम जाने के कारण, करैं शुभाशुभ सारे ।
जब परगति को करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे ।।५१।।

सर्वकुटुम जब रोवन लागै, तोहि रुलावैं सारे ।
ये अपशकुन करैं सुन तोकौं, तू यों क्यों न विचारे ।।
अब परगति को चालत बिरियाँ, धर्म ध्यान उर आनो ।
चारों आराधन आराधो मोह तनो दुख हानो ।।५२।।

ह्वै निःशल्य तजो सब दुविधा, आत्मराम सुध्यावो ।
जब परगति को करहु पयानो, परमतत्त्व उर लावो ।।
मोह जाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो ।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो ।।५३।।

दोहा

मृत्यु महोत्सव पाठ को, पढ़ो सुनो बुधिवान ।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द्र शिवथान ।।५४।।

पंच उभय नव एक नभ, संवत् सो सुखदाय ।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय ।।५५।।

समाधि भावना

दिन-रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ ।
देहान्त के समय में तुमको न भूल जाऊँ ॥
शत्रु अगर कोई हों, संतुष्ट उनको कर दूँ ।
समता का भाव धरकर, सबसे क्षमा कराऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥१॥

त्यागूँ आहार पानी औषध विचार अवसर ।
टूटे नियम न कोई दृढ़ता हृदय में लाऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥२॥

जागें नहीं कषायें, नहीं वेदना सतावे ।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥३॥

आतम स्वरूप अथवा आराधना विचारूँ ।
अरहंत सिद्ध साधु रटना यही लगाऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥४॥

धर्मात्मा निकट हों, चर्चा धर्म सुनावें ।
ये सावधान रक्खें, गाफिल न होने पावे ॥
देहान्त के समय ..... ॥५॥

जीने की हो न वांछा, मरने की हो न इच्छा ।
परिवार मित्र जन से, मैं राग को हटाऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥६॥

भोगे जो भोग पहले, उनका न होवे सुमरन ।
मैं राज्य-संपदा या पद इन्द्र का न चाहूँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥७॥

रत्नत्रय का हो पालन, हो अंत में समाधि ।
शिवराम प्रार्थना यह, जीवन सफल बनाऊँ ॥
देहान्त के समय ..... ॥८॥

मृत्यु याने क्या?

(संकलित विचार)

- जीवन एवं मन की शान्ति का रहस्य केवल इतना है कि महत्त्वाकांक्षा से मुक्त रहो ! एक दिन सभी मरने वाले हैं।
- हमने अपनी काया में एक अस्थिर घर बनाया है। जो काया हमने पहन रखी है, वह हमारा परिचय नहीं है। प्रतिदिन कुछ समय तक मृत्यु का ध्यान करो–हम सभी यहाँ वापसी का टिकट लेकर आए हैं।

– दादा जे. पी. वासवानी

- मृत्यु अनजान दरवाजों को खोलती है।

– जान मेसफील्ट, इंग्लॅन्ड

- सूर्यास्त केवल एक दृश्य है, सच नहीं, क्योंकि यहाँ का सूर्यास्त वास्तव में अन्यत्र सूर्योदय है। सूर्य तो कभी डूबता नहीं। इसी प्रकार मृत्यु भी भ्रम है क्योंकि यहाँ की मृत्यु वहाँ का जन्म बन जाती है।
- मृत्यु एक कक्ष से दूसरे कक्ष तक जाने का द्वार है।

– संत टी. एल. वासवानी

- अपने अनुभव पढ़ो, मृत्यु कभी अंत नहीं हो सकती।
- मृत्यु शरीर के पिंजरे से मुक्त करने आती है।
- बाह्य सुख, मौज-मस्ती, नाम-यश, बड़प्पन, सत्ता और दौलत परछाइयों से अधिक कुछ नहीं। इनके पीछे दौड़ना छोड़ो और अटल यात्रा की तैयारी करो।

-- Life After Death

- मृत्यु अंत नहीं है,
  अनंत की महायात्रा है;
  सत्य के पथ से, ईश्वरकी मंजिल की ओर।
- जियो तो ऐसे जियो कि सब कुछ तुम्हारा है।
  मरो तो ऐसे मरो कि तुम्हारा कुछ भी नहीं॥
- मृत्यु का अहसास होते ही अमरत्व की खोज शुरू हो जाती है।

– ओशो

- जन्म के बाद जीवन में अन्य कोई निश्चित वस्तु हो तो वह है मृत्यु।
- मृत्यु याने अनंत के महल को खोलने की सुनहरी चाबी।

– मिल्टन

- आत्मा किसी को मारती नहीं, और किसी से मरती भी नहीं।
- आत्मा अजर, अमर, अजन्मा और अविनाशी है।
- अपनी मृत्यु के आगमनसे हम इतने भयभीत हैं कि अन्य की मृत्यु पर हम आंसु बहाने लगते हैं।
- ईश्वर जिसे बहुत चाहता है उसे जल्दी ही अपने पास बुला लेता है।

– मिदेन्डर

- मृत्यु से ज्यादा सुंदर घटना और कोई हो ही नहीं सकती।

– वोल्ट व्हीटमेन

- योग्य व्यक्ति को ईश्वर आसान मौत देता है।

– स्वेत्लाना अलीलुवा

- जिस प्रकार आनंद में व्यतीत हुये दिन के अंत में अच्छी नींद आती है उसी प्रकार अच्छी तरह से जी गई जिंदगीके अंत में मृत्यु भी सुखद होती है।

– लीयोनार्डो - द - विन्सी

- मृत्यु की निश्चितता जीवन मूल्यों को ज़्यादा अर्थपूर्ण बनाती है।

– जोरवा लिष्मेन

- अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाती है।

– बाईबल

- जीवन जीने में इतने व्यस्त रहो कि मृत्यु का विचार भी न आये।

– रहोडो बेकर

- मृत्यु के बारे में मैंने बहुत विचार किया है, और मुझे वह सबसे छोटा अनिष्ट लगा है।
- मृत्यु जन्म जितनी ही सहज है और छोटे-छोटे बालकों के लिये तो एक समान पीडाकारक भी।

– फ्रान्सिस बेकन

- जिस प्रकार बालक अंधेरे में जाने से डरता है, उसी प्रकार मनुष्य मृत्यु से डरता है, इसका कारण उससे संबंधित अनेक प्रकार की बातें होती है।

– फ्रान्सिस बेकन

- मृत्यु के लिए तैयार रहो, जीवन और मौत दोनों मीठे लगेंगे।

– शेक्सपियर

- कायर व्यक्ति मृत्यु से पहले अनेक बार मरता है, परंतु वीर पुरुष एक ही बार मरता है।

– शेक्सपियर

- जीवन का प्रत्येक क्षण मृत्यु की यात्रा है।

– कोर्नेली

- मृत्युशैया पर रहस्य का प्रारंभ होता है।

– हेन्री वार्ड बीयर

- जीवन एक स्वप्नावस्था है और मृत्यु जागृति।

– ला बोमिले

- मृत्यु याने दूर के किनारे पर उतरना।

– ज्होन ड्रायडन

- मैं ये जानना चाहता हूँ कि मौत की घटना में कौन मरता है ? मौत या मैं ?

– सोक्रेटिस (मृत्यु के समय)

- ईश्वर की उँगलियों का उसे स्पर्श हुआ और वह सो गया।

–ट्रेनिसन

- मृत्यु जीवन की सबसे बडी हानि नहीं है, सबसे बडी हानि तो जीवन के दौरान अपने अंदर जो मरता है वह है।

– नोर्मन कमिन्स

- कोई जानता नहीं, लेकिन मृत्यु मनुष्य के लिये आशीर्वादरूप है।
- मुझे विश्वास है कि मृत्यु के उस पार कुछ है।

– प्लेटो

- जो मौत से डरता है वह ज़िंदगी जी नहीं सकता।

– स्पेनिश कहावत

- अच्छे इन्सान को भी मरना तो पडता ही हैं। परंतु मृत्यु उसका नाम मिटा नहीं सकती।

– एक कहावत

- जीवन को मैं प्रभु की भेंट के रूप में देखता हूँ, जिसे पाने के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया, अब जब उसे वापस करने का समय आया है, तब मुझे कोई शिकायत नहीं है।

– जोइस केरी (मृत्युशैया पर)

- जो लोग जीने के लायक होते हैं, वो मौत से डरते नहीं है।

– थियोडोर रुझवेल्ट

- नहीं है दुःख जुदाई का, जो जाता है उसे सहन करना पडता है, जो रहता है पीछे उसे।

– हेन्री लोंगफेलो

- महान कार्य के लिए शहीद होने वाले का बलिदान व्यर्थ नहीं जाता।

– लोर्ड बायरन

- कार्य करो ऐसा मानकर कि तुम सौ साल जीनेवाले हो,
  प्रार्थना करो ऐसा मानकर कि कल तुम्हारी मौत होनेवाली है।
- जो जान लेता है कि मैं भिन्न हूँ और देह भिन्न है उसके लिये मृत्यु है नहीं।

– ओशो

- छः गज जमीन, सबका एक ही नाप है।

– इटालियन कहावत

- अपनी अंतिम पोषाक में जेबें नहीं होतीं।

– इटालियन कहावत

- जब तक मौत सामने आकर खडी न हो जाये, तब तक तुम जीवन कितना सुखद है वह नहीं कह सकते क्योंकि अभी तक तो तुम जीये ही नहीं।

– ज्होन गाल्स वेर्वी

- मौत का पंजा जब अपने प्रियपात्र पर पडता है, तब हम पहली बार मौतको पहचानते हैं।

– मा. द. स्टेइल

- बिछड़ने की घड़ी आ गई है, और हम अपने रास्ते चलेंगे
  मैं मरूँगा, तुम जीओगे, ईश्वर ही जाने, अच्छा क्या है ?

– सोक्रेटिस

- मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकते, मृत्यु को जीत नहीं सकते,
  मृत्यु को जानना है, जानना ही मुक्ति बन जाता है।

– ओशो

- कब और किस प्रकार मरना वह तुम निश्चित नहीं कर सकते, लेकिन जीवन किस प्रकार जीना वह तो तुम निश्चित कर सकते हो।

– ज्होन बेइझ

- मरनेवाले के पीछे शोक मत करना क्योंकि वह तो सभी पीडाओं से मुक्त हो गया है।

– पालादास

- मरनेवालोंमेंसे जिन्होंने संसारी तृष्णाओंका त्याग किया हो वे निर्वाण को प्राप्त करते है।
- मृत्यु एक विश्वास है, और वह है आनेवाले कल का अभाव।

– एरिफ होकर

- मृत्यु के बाद भी अगर लोगों के दिलों में अपना स्थान हो, तो वह मृत्यु नहीं है। – थोमस केम्पबेल

- मृत्यु कभी दंड होती है, कुछ लोगों के किये उपचार, और अनेकों के लिये कृपा।

— सेनेका

- सब से ऊपर स्वर्ग है, जहाँ एक न्यायाधीश बैठता है, जिसे कोई राजा भी भ्रष्ट नहीं कर सकता।

— शेक्सपियर

- सज्जन आदमी का जीवन, मृत्यु की तैयारी है।

— सिसेरो

- जिसकी उपस्थिति से हम सजग नहीं होते वह मृत्यु अनिष्ट कैसे हो सकती है ?

— डायोजिनिस

- इंसान किस प्रकार मरता है वह नहीं, किस प्रकार जीता है वह महत्त्वपूर्ण है।

— सेम्युअल ज्होनसन

- जिंदगी में जो आदमी महान होता है, वह उसकी मृत्यु के बाद दस गुना महान बना रहता है।

— थोमस कार्लाइल

- मृत्यु को ढूंढो नहीं, मृत्यु खुद तुम्हें ढूंढ निकालेगी,
ऐसा रास्ता ढूंढो कि मृत्यु परिपूर्णता में परिणमित हो।

— दाग हेमरशोकोल्ड

- जीवन पर्वत से भी ज्यादा वजनदार होता है।
मृत्यु पंखसे ज्यादा हलकी होती है।

- जिंदगी की घडी को एक ही बार चाबी दी जाती है, और किस क्षण उसके कांटे बंद हो जाएँगे वह कोई नहीं जानता। उस क्षण के ही तुम मालिक हो।

- सत्य और सुंदरता को एक साथ दफनाया गया। सत्य ने सुंदरता से पूछा, "तुझे क्यों मरना पडा ?" सुंदरता ने कहा, "सुंदरता के कारण" जवाब सुनकर सत्य ने कहा, "तब तो हम सगे है क्योंकि मुझे भी सत्य के कारण ही मरना पडा।"

— अेमिली डिकिन्सन

- मौत का डर हमें इसलिये लगता है क्योंकि मौत के बाद हम कहाँ जाते है उसकी हमें खबर नहीं है।

- अहंकार मानव को तीव्र गति से मौत के मुँह में धकेल देता है।

- जब आम आदमी मर जाते हैं तब धूमकेतु दिखते नहीं हैं, परंतु जब किसी बडे आदमी की मृत्यु होनेवाली हो तब तो आसमान भी आग उगलने लगता है।

– शेक्सपियर

- इंसान को ख्याल है कि जब समय होगा तब मृत्यु आयेगी ही फिर भी वह उसके आगमन के ख्याल मात्र से ही डरता है।

– शेक्सपियर

- मृत्यु कभी रिश्वत नहीं लेती।
- मृत्यु याने अंत या अंतराय नहीं; परंतु नई सीढ़ी का प्रारंभ है।

– डॉ. राधाकृष्णन

- हमने मृत्यु को ज्यादा से ज्यादा विकृत रूप से चित्रित किया है।

– आल्डस हक्सली

- प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु की अनिवार्यता को समझता है, फिर भी वह उसके बारे में कभी भी विचार नहीं करता।

– महाभारत

- लोग मौतसे नहीं, लेकिन अपनी अपूर्णताओंका हिसाब देनेसे डरते हैं।

– गुडमेन

- एक बार हम अपनी खुद की मृत्यु को स्वीकार कर लेते हैं, तो यकायक जिंदगी जीने के लिये हम मुक्त हो जाते हैं।
- जैसे जैसे हम अपनी मृत्यु के करीब जाते हैं वैसे वैसे हम ज्यादा खिलते जाते हैं।
- सभी वस्तुएँ पृथ्वी से विकसित होकर पृथ्वी में ही वापस परिवर्तित होती है।
- मृत मानव मृत ही है जिसको कोई नाम निशान नहीं है।
- मृत्यु यानि मृत्यु की बातों से छुटकारा और एक ही पल में उसकी समाप्ति।

– सेम्युअल बटलर

- अमरत्व भी एक अभिशाप है।
- "मैंने वह गँवाया" ऐसा अफसोस कभी मत करो। सिर्फ इतना ही कहो कि "मैंने वह लौटा दिया"। ऐसी भावना करने से कभी कुछ जाने या गँवाने का दुःख नहीं होगा।
- पतझड़ आयेगा ही नहीं तो बसंत का मूल्य कैसे समझमें आयेगा ?
- इस जिंदगी में मृत्यु को पाना इसमें कुछ नया नहीं है, परंतु वैसे तो यूं ही जिंदगी जीने में क्या नया है ?

- किसी को प्रेम न कर सकें और किसी का प्रेम पा न सकें ऐसी परिस्थिति मृत्यु से भी बदतर है।

– दोस्तोअेवस्की

- एक लघु बसंत प्रेम और हास्य का,
  प्रकाश और जीवन का,
  और फिर बाहरी अंधकार का हाहाकार,
  और राख की राख में समाप्ति।
- मृत्यु काला ऊँट है, जो हर मनुष्य के आँगनमें एक बार अवश्य झुकता है।

– तूर्की कहावत

- उदित होता प्रभात नहीं देता भरोसा कि हम पूरा करेंगे दिन, क्योंकि मृत्यु द्वार पर राह देखती खड़ी है, हमारे जीवका हरण करने।
- हम भी धूल में मिल जाते हैं और हमारे महान कार्य भी।
- जब गौरव के साथ जीना संभव न हो, तब इंसान को गौरव के साथ मरना चाहिये।
- कई बार हम अपने आपको कष्टदायक स्वप्नावस्था से जगने के लिये धन्यवाद देते हैं। मृत्यु के समय भी ऐसा ही करना चाहिये।
- मृत्यु एक बडा साहस है।
- मैं चाहता हूँ कि मेरी मौत एक सच्चे इंसान की मौत हो, और वह मेरा अंतिम अंत हो।

– नंबर्स (बाइबल)

- अच्छे-भले महारथी भी कैसे ढल जाते हैं ? – बाइबल
- माता के उदर से मैं नग्न ही पैदा हुआ और मृत्यु के बाद भी वस्त्रहीन ही होऊँगा। ईश्वर की जय हो।
- क्या इंसान उसके सर्जक से भी अधिक न्यायशील हो सकता है ? क्या वह सर्जक से भी अधिक पवित्र हो सकता है ?

– जोष (बाइबल)

- प्रत्येक मानव अंत में अपने दूर के घर वापस फिरता है।

– बाइबल

- हे दिन के प्रहरी, तूने रात्रि का ख्याल किया है ?
- अपने घर को सुव्यवस्थित रखना, मौत दूर नहीं है।

– इसाइयाए (बाइबल)

- पाप का बदला मृत्यु है।

– रोमन्स (बाइबल)

- शैतान द्वारा की गई इर्ष्या से पाप जगत में प्रविष्ट हो सका है।
- मनुष्य उमदा प्राणी है, जो राख बनने के बाद भी भव्य लगता है, और कब्र में भी खौफ़दार।

– थोमस ब्राउन

- मौत कभी भी अर्थहीन नहीं होती।
- हम इंसान हैं, इसलिये भूतकालीन महानता का एक स्मरण भी विलीन होगा तो हमे दुःख होगा ही।

– विलियम वर्ड्झवर्थ

- ज्यादातर लोग इधर-उधर भटककर, खा-पीकर, बातें करके, प्रेम करके, नफरत करके, साथ मिलकर, बिछडकर, कुछ ऊँचाई पर चढ़ते ही धूल में पटक खाते हैं, और अनेक प्रयासों के बावजूद कुछ नहीं पाकर मृत्यु की भेंट चढ़ जाते हैं। मृत्यु के महासागरमें जीवनरूपी कुछ झाग दिखते हैं, जो क्षणमात्रमें लुप्त हो जाते हैं।

–मेथ्यु ओर्नोल्ड

- जब हम सब से ज्यादा सलामती का अनुभव कर रहे होते हैं तभी जिंदगी का सूर्यास्त हमे हल्के से स्पर्श करता है।
- मृत्यु से क्यों डरते हो ? वह तो एक अति सुन्दर अनुभव है।

– चार्ल्स फोहमेन

- निस्तेज मृत्यु किसी पक्षपात बिना ही गरीब की झोंपडी और राजा के महल पर आकर द्वार खटखटाती है।

– होरेस

- मृत इंसान बातें नहीं बनाता है।
- मृत्यु सारा हिसाब चुकता करती है।
- मृत्यु सभी प्रकार के भेदभाव मिटा देती है।
- मृत्यु भेडियों की तरह ही सियार को भी फाड़कर खा जाती है।
- सोक्रेटिस ने आत्मा के अमरत्व के बारे में खुद का ही उदाहरण देकर समझाया है कि शारीरिक बीमारी शरीर को खा जाती है लेकिन आत्मिक बीमारी याने कि पाप आत्माको खाता नहीं है।
- जो कभी भी मरता नहीं है उसे मौत भी मार नहीं सकती।

- प्रत्येक बिदाई पर है मौत की छाया।
- जो मृत्यु से नहीं डरता, वह धमकी से नहीं डरता।
- जीवन के प्रति लालसा के तल में होता है मौत का भय।
- शुभ जीवन डरता नहीं है—न मौत से, न जीने से।
- बीच के अवकाश को मनाने के सिवा जन्म और मृत्यु का कोई इलाज नहीं है।
- मृत्यु के पहले सारा ही जीवन जीवन है।
- माता पालने के पास जो लोरी गाती है, वह चिता तक के लंबे पथ पर पीछा करती है।
- प्रेम मृत्यु का एकमात्र असरदार प्रतिकार है।
- ये तो कैसा महान प्रभु! जो सबसे शक्तिशाली राजा के बल को भी मटियामेट कर देता है?
- स्वर्ग में अगर हँसने की छूट न हो, तो मुझे वहाँ नहीं जाना।
  — मार्टिन ल्यूथर किंग
- वस्त्र पुराने तजकर मानव नये वस्त्र शरीर पर धरता है,
  आत्मा खोखले शरीरको तजकर ताज़े शरीर को ग्रहता है।
- मृत्यु वृद्ध आदमी के पास जाती है और युवा आदमीके पास आती है।
- जिस प्रकार से हम जीते हैं उसी प्रकार हम मरते हैं।
- मरे हुए या अनुपस्थितके बारे में अच्छा बोलो अथवा चुप रहो।
- पृथ्वी पर सब से बडा भ्रम मृत्यु है। वास्तव में तो मृत्यु मात्र जीवन का बदला हुआ एक पहलू है।
- जो जीता है वह मरता है, जो खिलता है वह मुरझाता है,
  जो भरा हुआ है वह खाली होता है, और जो चढ़ता है वह गिरता है।
  जो हरा है वह सूखता है, जो नया है वह पुराना होता है।
  समय सब का विनाशक है। —शामल
- जो मौत से नहीं डरता वह, कुछ भी कर सकता है।
- सबसे प्राचीन मूक और बधिर आश्रयस्थान कब्र है।
- फेशन, प्यार और मृत्यु—जगत के तीन सम्राट है।
- मृत्यु के सिवा अपने खुद का कुछ भी नहीं है।

- ये ठाठबाठ और सत्ता अंत में तो मिट्टी और धूल के सिवा और क्या है ? अंत में तो हमें मरना ही है।
- तीन ताले लगे हुए द्वार के अन्दर भी मौत के चरण अवश्य पडते हैं।
- जब मृत्यु हमें चेतावनी दे तब हमें मौत से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि मृत्यु तो मात्र रात्रि के अंधकार से सुबह के प्रकाश की ओर की सफर है।
- हम सब मुसाफिर हैं, और जगत एक सराय,
  मृत्यु तो हमारे रात्रि मुकाम का अंत है।
- पर्णों के खिरने का निश्चित समय होता है,
  पुष्प उत्तरीय पवन से खिरते हैं,
  तारे अस्त होने का भी एक समय होता है,
  पर मृत्यु के लिये सभी ऋतुएँ समान हैं।

  – श्रीमती हेमन्स
- कैसा भी बडा विजेता हो, न्यायाधीश हो, या राजा हो,
  मृत्यु तो उनको एक नज़र से देखती है।
- कुछ आज मरते हैं, कुछ कल मरेंगे,
  कुछ दिन में मरते हैं, कुछ रात में मरते हैं,
  कुछ जवानी में मरते हैं, कुछ बुढापे में मरते हैं,
  कुछ किसी कारणवश मरते हैं, कुछ आत्मघात करके मरते हैं,
  कुछ वैभवशाली जीवन के कारण मरते हैं, जब कि कुछ बीमारी या सर्पदंशसे मरते हैं, कुछ भूख से, अजीर्ण से या पागल कुत्ते के काटने से मरते है, कुछ घमासान युद्धमें मरते हैं। शामल कहता हैं कि मृत्यु एक या अन्य प्रकार से उसको दंश मारे बिना नहीं रहती।
- इंसान एक मृत्यु के डर में हजारों मृत्यु की पीडाओं को सहन करता है। – यंग
- जीवन को होड़ में मत रखो, मृत्यु से मत डरो।
- इंसान अपने अंत से ज्यादा अपने अंतिम समय से डरता है। अगर वह ऐसा स्वीकार कर ले कि उसी के हित के लिये उसे अपने पास बुला लेनेका परमात्माने उसे वचन दिया है, और उसी वचन का पालन करने के लिये ही उसे वापस बुलाते हैं, तो उसे मृत्यु का डर लगने का कोई कारण नहीं है।

- जीवन की निरर्थकता और मृत्यु की निश्चितता का यथार्थ ख्याल रखने के लिये इंसान को मृत्यु की उदासीनता बढाये ऐसे पहलूओं को देखते रहना चाहिये। इंसान को आज का दिन अपना अंतिम दिन है ऐसा मानकर ही जीना चाहिये। अपनी ऐसी घटना के डर से नहीं परंतु उसके आने तक और उसके साथ संघर्ष होने तक अपना कार्य करते रहना चाहिये और अपना फर्ज़ अदा करते रहना चाहिये।

- मृत्यु के डर बिना जीवन जीते रहना पकी उम्र तक आनंदपूर्वक जीते रहने का एकमात्र रास्ता है। अगर मृत्यु घृणाजनक और भयजनक बनती है, तो उसका कारण हमारी ही आदतें एवं विकृतियाँ है। अंधेरे कक्ष में अपने शव के पास बैठकर विलाप करते स्वजन और मित्रों की कल्पना मृत्यु को भयजनक बनाते हैं। हमारे प्राचीन कवियों ने नींद और मृत्यु को जुड़वा भाइयों की तरह गिनाया है। अगर हम मृत्यु के जुड़वा भाई को नित्य एक मित्र गिन कर बुलाते हों तो हमें मौत से भी क्यों घबराना चाहिये ? मृत्यु जीवन जितनी ही निश्चित है। दोनों अपनी जानकारी के बिना आते हैं। किसी को नींद या मृत्यु के आगमन के निश्चित पल का ज्ञान नहीं होता, तो फिर मृत्यु से इतना क्यों भयभीत होना ?

- हे मृत्यु ! तू आ,
  और मुझे सायप्रस के उदास पेड़ के नीचे दफना दे,
  हे मेरी सांस, तू चली जा,
  मुझे सुंदर, क्रूर युवती ने मार डाला है।
  मेरे सफेद कफन को तैयार करो !
  मेरी मृत्यु के पाठ की अदाकारी में,
  कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता। –शेक्सपियर

- इस जगत में मृत्यु और कर के सिवा कुछ निश्चित नहीं है।
  – बेन्जामिन फ्रैंकलिन

- हे छोटी सी मोमबत्ती ! तू बुझ जा।
  जीवन मात्र एक हिलती-डुलती परछाँई है, और एक निर्बल अदाकार है, जो तख्त पर अपना एक घंटा गर्व से बिताकर खो जाता है। जीवन एक मूर्ख के द्वारा कही गई कहानी है जिसमें शोरगुल और आवेश है, परंतु उसका कोई सार नहीं है।
  – शेक्सपियर

- जीवन की सब से बड़ी हानि मृत्यु नहीं है, जीवन में जो हम अंदर से मर जाते हैं, वही बड़ी हानि है। —नॉर्मन कजिन्स
- मौत को दोस्त बनाते हो, तो दोस्ती निभाओ और अगर दुश्मन बनाते हो, तो उसे जीतो। अगर वह अजनबी बनकर आ गयी, तो हानि पहुँचा सकती है। —क्वार्ल्स
- जब हम होते हैं तब मौत नहीं होती और जब मौत होती है, तब हम नहीं होते, अतः जो सब खतरों में सबसे खतरनाक है वह हमारे लिये कुछ नहीं। —एपीक्यूरस
- हम अपनी मृत्यु से डरते हैं अतः दूसरों की मृत्यु पर आँसू बहाते हैं। —महात्मा गांधी
- तमाम उम्र मुझे जिंदगी ने लूटा है, आज मौत के हाथों में पहुँच कर सुरक्षित हूँ! —आदिल मन्सूरी
- मैं भले मर जाऊँ, परन्तु मुझे शत-प्रतिशत विश्वास है कि मेरे गुण अमर रहेंगे। —आर. डब्ल्यू. एमरसन
- जितना अधूरा जीवन, उतना ही मृत्यु का डर। —लिस्ल मार्बर्ग गुडमैन
- जीवन एक हाथ से छूटा काँच का प्याला है। —आचार्य विद्यासागर
- शेर की जिंदगी जीनेवाले कुत्ते की मौत नहीं मरते। —अज्ञात
- कभी न होगा जिंदगी का यह सफर खत्म, मौत सिर्फ रास्ता बदल देगी।
- अपनी जन्मसे मृत्यु तक की यात्रा सात हिस्सों में बँटी हुई है।
  (१) नर्स के हांथों में उवाँ! उवाँ! करते एक नवजात शिशु के रूप में!
  (२) चमकता चेहरा और कंधे पर किताबों का थैला लटकाये हुए लड़के के रूप जो स्कूल जाने की अनिच्छा के कारण कछुअे की चाल चलता है।
  (३) भट्ठी की तरह गरमागरम निश्वास फेंकते हुए एक प्रेमी के रूपमें, जो अपनी प्रियतमा भँवर पर एक दर्द भरे काव्य की रचना कर लेता है।
  (४) विचित्र प्रकार की अनेक प्रतिज्ञा लेते हुए दाढ़ीधारी सैनिक के रूपमें जो मान पाने के लिए किसी से इर्ष्या करता है,

जल्द और अचानक किसी के साथ झगडा करता है, और तोप की नली के अन्दर भी पीसी कीर्ति को ढूँढता है।

(५) गोलमटोल पेटधारी, दाढ़ीधारी, सख्त आँखोंवाला, अच्छी बातें करता और वर्तमान दृष्टांत देते एक न्यायाधीश के रूप में।

(६) बच्चे जैसा तीखा और बांसुरी तथा सोटी की मिश्रित आवाज़ों जैसी सांस लेते हाडपिंजर जैसा और नासिका पर उतरे हुए चश्मे को उपर चढाते और ढीली पतलून को ऊपर चढ़ाते हुए वयोवृद्ध इंसान के रूप में।

(७) बालक के पुनरावतार जैसा दंत विहीन, मुंदी हुई आँखोवाला, बेस्वाद बनी हुई जीभवाला और सभी प्रकार से निर्बल हो गये जैफ़ आदमी के रूप में।

– शेक्सपियर

- What is death ? Just a change of dress and address.
- कहाँ नहीं है मौत ? मौत के mouth में बैठा है संसारी प्राणी।

– आचार्यश्री विद्यासागर मुनि

- मौत जितनी अनिश्चित है, उतनी ही सुनिश्चित भी।

– डॉ. भागचन्द्र भास्कर

- कभी न होगा ज़िंदगी का यह सफ़र खत्म। मौत सिर्फ़ रास्ता बदल देगी। –एक उर्दू शायर
- शुभ जीवन, पवित्र मौत–यही है सार सर्वस्व।
- जिसे मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्यु से बचकर भाग सके ऐसा हो या मैं मरूँगा ही नहीं ऐसा जिसे निश्चय हो, वह सुख की नींद सो सकता है। –श्री तीर्थंकर छजीवनिकाय अध्ययन
- मौत की निश्चित पल हम जान नहीं सकते, अतः त्वरा से धर्म में सावधान होना चाहिये। –श्रीमद् राजचंद्र
- संग्रह का अंत विनाश है, ऊपर चढने का अंत नीचे पडना है, संयोग का अंत वियोग है और जीवन का अंत मरण है।

–वाल्मिकी रामायण

- जन्मे हुए का मरण निश्चित है और मरे हुए का जन्म। अतः अटल के विषय में तुम्हें शोक करना उचित नहीं है।

–भगवद् गीता २–२७

संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः

—आचार्यश्री ज्ञानसागर मुनिराज

किलात्मघातः क्रियते तु देह-भ्रताऽपमानाद्यनुभूय चेह ।
संन्यस्यते शान्तिमताऽऽत्मनाऽतः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥१॥

नाशोन्मुखं नाम शरीरमेतन्निक्षिप्यते तादृगुपक्रमेत् ।
हृषीकनिःस्वान्तनियन्त्रणातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥२॥

किन्त्वात्मनोग्लानिवशेन घातस्तनोः सुचारोः क्रियते वतातः ।
उद्विज्यसञ्जीवनतोऽयिमातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥३॥

विषादिनाऽङ्गक्षतिषाञ्चघन्यः स आत्मघाती पुनरेति धन्यः ।
देहे विरुद्धेऽमुमुदारतातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥४॥

संन्यासिनारत्नकरण्डकस्येवाङ्गस्य रक्षा क्रियते स्ववश्ये ।
नोचेत्तु रत्नान्यभिरक्षतातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥५॥

शाकाशनीशाकविधाऽपलापे प्रवर्तते किन्नुपलेऽपि पापे ?
म्रियेत धैर्येण न निम्नतातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥६॥

स्वसंविदः संवहनं विधानेऽपिश्लाघ्यतामेति किलानुजाने ।
यो गीयते योगिषु संहितातः संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥७॥

यत्रात्महन्त्रे घृणया धिगस्तु, संन्यासिने किन्तु नमोऽङ्गिनस्तु ।
सर्वत्र नित्यं मृदुभावनातः, संन्यास एषोऽस्तु किमात्मघातः ॥८॥